सीमित वितरण हेतु प्रकाशित

देखी सुनी

वर्ष 2012, अंक 19–20

प्रिय सथियों,

इस बार के अंक में हम लेकर आए हैं– अन्ना हजारे व ईरोम शर्मिला के संघर्ष की गूंज, आवास और विकास का सवाल, सशस्त्र बल विशेषाधिकार कानून, सूचना का अधिकार व लोकपाल पर खिंचती लकीरें, तथा आपके सुझावों के आधार पर शामिल कुछ सरकारी नीतियों व योजनाओं की सूची व संक्षिप्त विवरण।

आशा है विभिन्न आवाज़ो को समर्पित हमारा ये प्रयास आपके लिए उपयोगी रहेगा। अपने सुझाव व प्रतिक्रियाओं से हमारा प्रोत्साहन व मार्गदर्शन अवश्य करें।

नीतू रौतेला
जागोरी संदर्भ समूह

राजदीप सरदेसाई

लेखक आईबीएन 18 नेटवर्क के एडिटर-इन चीफ हैं।

rajdeep.sardesai@network18online.com

अन्ना और इरोम

अन्ना और इरोम शर्मिला दोनों ही यूं तो अनशन का इस्तेमाल प्रतिरोध के एक शांतिपूर्ण शस्त्र की तरह कर रहे हैं, लेकिन वास्तव में वे राज्यसत्ता के दुरुपयोग पर सवाल भी उठा रहे हैं।

दो आंदोलनों की दास्तान

मणिपुर वूमेन गन सर्वायवर्स नेटवर्क की संस्थापक बीनालक्ष्मी नेप्राम ने मुझसे अपनी सुपरिचित व्यग्रता के साथ पूछा आप इरोम शर्मिला के एक दशक से चल रहे अनशन का कवरेज उतनी ही मुस्तैदी से क्यों नहीं करते, जैसा आपने अन्ना हजारे के तेरह दिन के अनशन का किया था?' एक लाइव प्रोग्राम में स्टेज पर पूछे गए इस सवाल से बच निकलने की कोई गुंजाइश नहीं थी। मैंने एक कमजोर-सा जवाब दिया : 'शायद इम्फाल की तुलना में रामलीला मैदान टीवी स्टूडियो के अधिक निकट है।'

'दूरी की मजबूरी', यह इस सवाल के लिए महज एक अधूरी सफाई ही हो सकती है कि आर्म्ड फोर्सेस स्पेशल पॉवर्स एक्ट (एएफएसपीए) के उन्मूलन की मांग को लेकर नवंबर 2000 में अनशन शुरू करने वाली एक 39 वर्षीय महिला के संघर्ष की कहानी टीवी चैनलों की सुर्खियां क्यों नहीं बनी। हां, जब मणिपुरी महिलाओं ने निर्वस्त्र होकर विरोध प्रदर्शन किया था, तब जरूर राष्ट्रीय मीडिया का ध्यान कुछ समय के लिए इस त्रासदी की ओर गया था। लेकिन इस मसले को पूर्वोत्तर की परंपरागत उपेक्षा के चश्मे से देखना वास्तव में इस मौजूदा हकीकत की ही उपेक्षा करना होगा कि मीडिया और प्रबुद्ध नागरिकों की नजरों में 'जनतांत्रिक' प्रतिरोध के क्या मायने हैं।

एक क्षण के लिए इरोम शर्मिला के साहसपूर्ण संघर्ष को भूल जाएं और मेधा पाटकर के बारे में विचार करें। इसी साल मई में पाटकर ने मुंबई में झुग्गी-झोपड़ियों को हटाए जाने के विरोध में नौ दिन का अनशन किया था। उनके अनशन ने स्थानीय अखबारों का ध्यान जरूर खींचा था, लेकिन टीवी कैमरे इफरात में नजर नहीं आए थे। झुग्गी-झोपड़ियों को हटाना एक ऐसा मसला है, जो शहरी मध्य वर्ग को असहज कर देता है। यह वर्ग मेधा पाटकर को एक 'ट्रबल मेकर' की तरह देखता है, फिर चाहे बांध परियोजना प्रभावितों के पुनर्वास की मांग हो या सिंगुर में टाटा नैनो प्लांट का विरोध। लेकिन जब वे ही मेधा पाटकर टीम अन्ना के मंच पर खड़ी होकर तिरंगा फहराती हैं तो वे साहस व आदर्शवाद की प्रतिमूर्ति बन जाती हैं।

या फिर वकील-सामाजिक कार्यकर्ता प्रशांत भूषण के बारे में ही विचार करें। चंद माह पूर्व जब वे कथित माओवादियों के लिए केस लड़ रहे थे या अरुंधती राय की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार का समर्थन कर रहे थे तो मीडिया के एक वर्ग ने उन्हें 'राष्ट्रविरोधी' करार दे दिया था। आज वही मीडिया उन्हें भ्रष्टाचार के विरुद्ध संघर्ष कर रहे एक योद्धा की तरह देख रहा है। जब भूषण और पाटकर ने यथास्थिति को चुनौती दी तो उन्हें निशाना बनाया गया, लेकिन जब वे धारा के साथ बहने लगे तो उन्हें नायकों-सा सम्मान दिया गया।

वास्तव में तथ्य यह है कि 'भ्रष्टाचार विरोध' एक ऐसा लोकप्रिय ब्रांड है, जो बहुतेरे लोगों को आकर्षित करता है। अन्ना हजारे के आंदोलन की सफलता की वजह थी उसका सरल और समावेशी चरित्र। यह एक ऐसा आंदोलन था, जो मेधा पाटकर, श्रीश्री रविशंकर और ओम पुरी के साथ ही लाखों अनाम भारतीयों को एक मंच पर ला सकता था। और यही अन्ना और इरोम शर्मिला के आंदोलन का भेद भी है। एक आंदोलन को संगठित करने वाला माना जाता है तो दूसरे को विभाजित करने वाला। अन्ना का आंदोलन महज जनलोकपाल बिल के ब्योरों के बारे में ही नहीं था, भ्रष्टाचार के विरुद्ध जन-मन में पैठे आक्रोश का एक सशक्त प्रतीक भी था। मध्य वर्ग के लिए अन्ना का तपश्चर्यापूर्ण आंदोलन उनकी अपनी उपभोक्तावादी जीवनशैली से विपरीत था, इसलिए अन्ना टोपी पहनने का मतलब था, कुछ देर के लिए ही, लेकिन एक संतुलन स्थापित करना। इस आंदोलन ने आर्थिक रूप से समृद्ध लोगों को सहसा राजनीतिक रूप से भी सशक्त होने का अहसास कराया।

इसके विपरीत इरोम शर्मिला आम नागरिकों के समक्ष एक अधिक जटिल विकल्प प्रस्तुत करती हैं। मणिपुरियों के लिए वे एक स्थानीय नायिका हैं, जो सेना द्वारा मानवाधिकारों के उल्लंघन के विरोध की प्रतीक हैं। लेकिन देश के अन्य भागों के लोग उनके आंदोलन को एक ऐसे संघर्ष के रूप में देख सकते हैं, जो भारतीय राज्यसत्ता की संप्रभुता को प्रश्नांकित कर रहा है। मणिपुरी लोग एएफएसपीए को बुनियादी स्वतंत्रता का हनन करने वाली इकाई के रूप में देख सकते हैं, लेकिन ऐसे लोग भी कम नहीं होंगे, जो उसे उग्रवाद से ग्रस्त क्षेत्र के लिए आवश्यक मानें। इन अर्थों में इरोम शर्मिला के अनशन को राष्ट्रवादियों द्वारा ठीक उसी तरह भारतीय राज्यसत्ता को एक चुनौती माना जाएगा, जैसे वे जम्मू-कश्मीर के किसी लोकप्रियतावादी आंदोलन को भारतीय संप्रभुता के लिए एक खतरा मानते हैं।

लेकिन विडंबना है कि अन्ना और इरोम शर्मिला दोनों में ही कई समानताएं भी हो सकती हैं। जहां दोनों ही अनशन का इस्तेमाल प्रतिरोध के एक शांतिपूर्ण शस्त्र की तरह कर रहे हैं, वहीं वास्तव में वे राज्यसत्ता के दुरुपयोग पर सवालिया निशान भी लगा रहे हैं। सत्ता के दुरुपयोग की वजह है कुप्रशासन। जहां सुप्रशासन विफल हो जाता है, वहीं भ्रष्टाचार की विषबेल पनपती है। चाहे मणिपुर हो या जम्मू-कश्मीर, एएफएसपीए जैसे कठोर कानून को लागू करना वास्तव में एक प्रशासनिक संकट को दर्शाता है। वस्तुतः मणिपुर और जम्मू-कश्मीर ने हिंसा के कारण उतना कष्ट नहीं सहा है, जितना कि भ्रष्ट राजनीतिक तंत्र के कारण।

इसीलिए हर वह व्यक्ति, जो एक सशक्त लोकपाल बिल की मांग कर रहा है, उसे एएफएसपीए के उन्मूलन की मांग का भी समर्थन करना चाहिए। और इसीलिए अन्ना हजारे को गंभीरतापूर्वक इरोम शर्मिला के इस अनुरोध पर विचार करना चाहिए कि वे मणिपुर आएं और उनके संघर्ष के प्रति अपना समर्थन व्यक्त करें। यह पूरी तरह एक प्रतीकात्मक यात्रा हो सकती है, लेकिन इससे यह जरूर होगा कि टीवी कैमरे मणिपुर की त्रासदी की ओर रुख करने को भी विवश हो जाएंगे, चाहे एक दिन के लिए ही सही।

वर्ष 1947

से पहले मणिपुर को कांगलापाक किंगडम के नाम से जाना जाता था।

इम्फाल का कांगला फोर्ट 2004 से पहले अर्द्धसैनिक बल असम राइफल्स का गढ़ हुआ करता था।

हर वह व्यक्ति, जो एक सशक्त लोकपाल बिल चाहता है, उसे एएफएसपीए के उन्मूलन की मांग का भी समर्थन करना चाहिए। और इसीलिए अन्ना हजारे को इरोम शर्मिला के इस अनुरोध पर विचार करना चाहिए कि वे मणिपुर आएं और उनके प्रति समर्थन जताएं।

भास्कर ब्लॉग... सुनील यादव sunil.yadav@mp.bhaskarnet.com

नोबेल पुरस्कार के शांति-गीत में लोकतंत्र रस

चंदन श्रीवास्तव
लेखक सीएसडीएस से संबद्ध हैं।

बहस के मुद्दे

सरलीफ, ग्वोबी और कामरान के काम गवाही देते हैं कि लोकतंत्र बहाली का वही कोट हर देश के शरीर पर फिट नहीं बैठने वाला जो विकसित मुल्कों ने पूरी दुनिया के लिए सिलवा रखा है।

अबसे पहले कभी-कभार ही सुनने को मिला है कि अफ्रीका या मध्य-पूर्व की किसी महिला को नोबेल शांति पुरस्कार हासिल हुआ। 2004 में पहली बार किसी अफ्रीकी महिला को इस पुरस्कार के लायक समझा गया। उस समय केन्या की पर्यावरणवादी वांगरी मथाई को नोबेल शांति पुरस्कार से नवाजा गया था। इसी महीने मथाई का देहांत हुआ है। मथाई से एक साल पहले शीरीं ईबादी को नोबेल शांति पुरस्कार मिला था। सुखद आश्चर्य कहा जाना चाहिए कि इस साल नोबेल शांति पुरस्कार का ऐलान हुआ है तो उसमें अफ्रीका और मध्य-पूर्व की महिलाओं के नाम हैं। नोबेल शांति पुरस्कार के रूप में दी जाने वाली 1 करोड़ स्वीडिश क्रोनर यानी 1 लाख यूरो में इस साल तीन महिलाएं हिस्सा बंटा रही हैं। इनमें दो एलेन जॉनसन सरलीफ (लाइबेरिया की राष्ट्रपति) और लीमा ग्बोवी (सामाजिक कार्यकर्ता) पश्चिमी अफ्रीका के देश लाईबेरिया की हैं और तीसरा नाम यमन की एक्टिविस्ट पत्रकार तवक्कुल कारमान का है।

नोबेल शांति पुरस्कार से नवाजी गई शख्सियतों में महिलाओं के नाम गिनती के हैं। सरलीफ, ग्वोबी और कारमान के नाम शामिल कर लें तो भी इस सूची में महिलाओं की संख्या 15 पर जाकर थम जाती है। अफ्रीकी महिलाओं का ही संघर्ष क्यों, महिला-मात्र के संघर्ष और रचनाशीलता की पहचान के लिहाज से भी देखें तो नोबेल पुरस्कारों की फेहरिश्त हद से ज्यादा तंग नजर आएगी। विभिन्न विधाओं में दिए जाने वाले नोबेल पुरस्कारों को एक साथ समेट कर देखें तो 1901 से लेकर 2011 तक बस 44 बार महिलाओं की रचनाशीलता को नोबेल पुरस्कार से नवाजे जाने लायक समझा गया। चूंकि मेरी क्यूरी को 1903 में भौतिकी के लिए और फिर 1911 में रसायनशास्त्र के लिए नोबेल पुरस्कार मिला इसलिए कुल 110 साल के इतिहास में नोबेल पुरस्कार से नवाजी गई महिलाओं की संख्या 43 मानी जाएगी, न कि 44।

पुरस्कार वैसे तो किसी के संघर्ष और रचनाशीलता के सम्मान और स्वीकार में ही दिए जाते हैं लेकिन पुरस्कारों के साथ विचारधारात्मक प्रसंग लाजिमी तौर पर जुड़ जाते हैं। इस बार के नोबेल शांति पुरस्कारों के साथ यह बात खास तौर पर देखी जा सकती है। तीन महिलाओं को संयुक्त रूप से नोबेल शांति पुरस्कार देने वाली समिति ने कहा कि समाज के हर स्तर पर होने वाले बदलाव-विकास को प्रभावित कर सकने के हासिल अवसर के मामले में जब तक पुरुष और महिलाएं बराबरी पर नहीं आ जाते तब तक तब तक दुनिया में न तो लोकतंत्र कायम किया जा सकता है न ही स्थायी शांति स्थापना की जा सकती है। समिति ने माना कि सरलीफ, ग्वोबी और कारमान को यह पुरस्कार महिलाओं की सुरक्षा और शांति-स्थापना के काम में महिलाओं की पूर्ण भागीदारी के अधिकार के उनके अहिंसक संघर्ष के लिए दिया जा रहा है।

खुद को विकसित मानने वाले मुल्कों को लोकतंत्र और सच्चे लोकतंत्र के परख की कसौटियों की बात अक्सर एशिया और अफ्रीका के देशों के संबंध में याद आती है। गौर करें कि लोकतंत्र की स्थापना के लिए स्त्री-पुरुषों की बराबरी की बात नोबेल शांति पुरस्कार देने वाली समिति को याद आई तो लाइबेरिया और यमन के संबंध में। विकसित मुल्कों का अपना खास राजनीतिक शब्दकोश है और इस शब्दकोश में किसी देश में लोकतंत्र की दशा-दिशा क्या है- इसे जानने के लिए कुछ मानक तय कर दिए गए हैं। लाइबेरिया गुजरे तीस साल में दो बार गृहयुद्ध की चपेट में आया है और 40 लाख की आबादी वाले इस देश में ढाई लाख लोग इस हिंसा की भेंट चढ़े हैं। यमन अपने एकीकरण के महज चार साल के अंदर (1994 में) गृहयुद्ध की चेपट में आया और वहां राष्ट्रपति अली अब्दुल्ला सालेह को गद्दी से हटाने का संघर्ष जारी है। जब कहा जाता है कि यमन शेष अरब-जगत से मानव-विकास के सूचकांकों के मामले में पीछे है या जब लाइबेरिया ही नहीं ज्यादातर अफ्रीकी मुल्कों के बारे में संयुक्त राष्ट्र संघ की रिपोर्टों की मानकीकृत भाषा में सुनाया जाता है कि वे मानव-विकास सूचकांक पर दुनिया के सबसे निचले पायदान के देश हैं तो इस आर्थिक शब्दावली में यह राजनीतिक संदेश छुपा होता है कि ऐसे देशों में लोकतंत्र बहाली के लिए अभी माकूल आबो-हवा पैदा नहीं हुई है और इसके कारण इन देशों की संस्कृति में छुपे हैं।

लाइबेरिया की राष्ट्रपति एलेन जॉनसन सरलीफ और सामाजिक कार्यकर्ता लीमा ग्बोवी हों या फिर यमन की आंदोलनधर्मी पत्रकार तवक्कुल कारमान- सबके सब इस शब्दावली में लोकतंत्र बहाली के संभावनाशील एजेंट के रूप में चिह्नित किए जाते और पुरस्कारों के योग्य माने जाते हैं। किसी को याद तक नहीं आता कि लोकतंत्र के जो मानक विकसित दुनिया शेष विश्व के लिए अपनाती है वही मानक उस पर भी लागू होते हैं। पल भर को मान लें कि स्त्री-पुरुष के अधिकारों की बराबरी के मामले में लाइबेरिया या यमन की सांस्कृतिक आबोहवा को अभी दुरुस्त किया जाना शेष है और यह काम सरलीफ, ग्वोबी और कारमान अपने तईं कर रहे हैं। फिर भी यह सवाल तो उठेगा ही कि क्या विकसित दुनिया स्त्री-पुरुषों के अधिकारों की बराबरी की मामला हल कर चुकी है?

सरलीफ, ग्वोबी और कामरान के काम इस बात की गवाही देते हैं कि लोकतंत्र की बहाली का वही कोट हर देश के शरीर पर फिट नहीं बैठने वाला जो विकसित मुल्कों ने पूरी दुनिया के लिए अपने नाप के हिसाब से सिलवा रखा है। गृहयुद्ध से त्रस्त लाइबेरिया में ग्वोबी ने महिलाओं को इस बात के लिए तैयार किया जब तक शांति-स्थापना की वार्ताएं किसी संतोषजनक मुकाम तक नहीं पहुंच जाती तबतक इस मिशन के लिए संघर्षरत कोई भी महिला अपने पति से शारीरिक संपर्क नहीं बनाएगी। यमन के राष्ट्रपति सालेह के खिलाफ तवक्कुल कामरान की महिला-पत्रकारों की संस्था 'बिला कैद' को यह मानने में तनिक परहेज नहीं कि उसके वैचारिक रिश्ते 'मुसलिम ब्रदरहुड' जैसे धर्मप्रेरित राजनीतिक संगठन से हैं। ग्वोबी का प्रयोग एक स्तर पर सत्याग्रहियों के लिए महात्मा गांधी के ब्रह्मचर्य-विधान की याद दिलाता है और लाइबेरिया की सांस्कृतिक परिवेश में ही संभव है। इसी तरह यमन में लोकतंत्र की बयार किसी सेकुलरी वातायन से नहीं बहने वाली बल्कि उसके लिए 'मुसलिम ब्रदरहुड' की खिड़की का होना एक जरूरी शर्त है। विडंबना यह है कि कामरान और ग्वोबी जिस बात को पहचानती हैं, उन्हें पुरस्कृत करने वाला विकसित जगत उसी बात को लोकतंत्र के कच्चेपन का कारण बताता है।

chandan@csds.in

महाराष्ट्र में 'नकुशा' बनी 'ऐश्वर्या'

अशोक वानखड़े

बीते शुक्रवार की भाई दूज महाराष्ट्र के सतारा जिले की 222 लड़कियों के लिए खास मायने रखती है। क्योंकि जीवन में पहली बार भाई दूज के त्योहार पर भले ही सगे न हों, लेकिन दूर के रिश्ते के भाई भी उन्हें उनके अपने नामों से पुकारेंगे।

ये वो 222 लड़कियां हैं, जिनका नाम उनके जन्मदाता माता-पिता ने 'नकुशा' रखा था। 'नकुशा' कोई नाम नहीं, बल्कि एक मराठी शब्द है, जिसका मतलब है अवांछित या अनचाही। इन 222 नकशियों की कहानियां एक दूसरे से मिलती जुलती हैं, क्योंकि उनका परिवेश एक है, उनके परिवार की सामाजिक स्थिति एक है और उनका नाम एक है 'नकुशा'। राज्य सरकार ने 30 सितंबर को सतारा में एक कार्यक्रम आयोजित कर इन 222 नकुशा लड़कियों का नामकरण किया। 222 में से एक लड़की का नाम 'सुनीता' रखा गया और बाकी 221 लड़कियां बनीं 'ऐश्वर्या'।

महाराष्ट्र में लड़के और लड़कियों का अनुपात जो 2001 में 1000 लड़कों पर 913 लड़कियों का था, वह 2011 में घटकर 1000 लड़कों पर 883 लड़कियों का हो गेया है। यहां जिस जिले का जिक्र चल रहा है, उस सतारा जिले में तो यह अनुपात 1000 लड़कों पर 881 लड़कियों का ही है। समाज में वंश चलाने के लिए बेटा होना जरूरी माना जाता है। बेटे की आस में एक के बाद एक बच्चों को जन्म दिया जाता है। जब घर में पहली संतान लड़की होती है तो परिवार इस बात की खुशी मनाता है कि घर में लक्ष्मी का आगमन हुआ है। उसके बाद उसके भाई यानी लड़के के जन्म का इंतजार होता है। लड़की के बाद फिर लड़की होती है तो परिवार इस सोच से उसका स्वागत करता है कि पहली बेटी की बहन आई है। जब तीसरी बार लड़की पैदा होती है तो परिवार इस आस पर उसका स्वागत करता है कि यह अपने भाई के आने की खबर लेकर आई है, लेकिन जब चौथी संतान भी लड़की पैदा होती है तो घर में मायूसी छा जाती है। महाराष्ट्र के ग्रामीण इलाकों में उस चौथे बच्चे के जन्म पर न जश्न होता है न ही उसका नामकरण किया जाता है, जैसा कि उसकी बड़ी बहनों का होता है। अंत में उसे नकुशा कह कर संबोधित किया जाता है और जीवन के अंत तक वह अनचाही होने का सामाजिक दाग अपने ऊपर लेकर जीती है। नकुशा को स्कूल में भी नकुशा के नाम से ही भर्ती किया जाता है और तब से कानूनन उसका नाम नकुशा हो जाता है।

सतारा जिले में जब नकुशा ढूंढने का अभियान चला तो जिले के कोरेगांव और वाई तहसील में एक भी नकुशा नहीं मिली। पाटण तहसील में 92, माण में 56, कराड़ में 16, महाबलेश्वर में 12, सतारा में 11, फ्लटन में 11, खंडाला में 11 और जावली तहसील में 5 नकुशियां मिलीं।

यह एक विडंबना है कि 125 साल पहले जिस महाराष्ट्र में ज्योतिबा और सावित्री बाई फुले ने सामाजिक क्रांति की नींव रख महिलाओं के उत्थान के लिए काम किया हो, आज उसी राज्य में लड़कियां अनचाही हो गई हैं।

सतारा में मेडिकल फील्ड में काम करने वाले मुकुंद देशपांडे का मानना है कि जिले के ग्रामीण इलाकों में अनचाही लड़कियों को नकुशा कह कर संबोधित किया जाता है। यह जिले के लिए कोई गौरवपूर्ण चीज नहीं है, लेकिन मेरे हिसाब से जिले के ग्रामीणों को मैं तब भी शहरियों से ठीक मानता हूं। ग्रामीण इलाकों में उस लड़की को, भले ही वह अनचाही हो, जन्म तो देते हैं। उसका पालन पोषण करते हैं। उसे स्कूल तो भेजते हैं। उसे नकुशा भले ही कहते हों, लेकिन उससे नफरत तो नहीं करते। लेकिन शहरी इलाकों में शिक्षित लोग अस्पताल जाकर गर्भ की जांच करवाते हैं और यदि गर्भ में लड़की पल रही हो तो गर्भपात कर अनचाही लड़कियों की जन्म से पहले हत्या कर देते हैं। इन शहरी शिक्षित हत्यारों से अशिक्षित ग्रामीण कई गुना अच्छे।

सतारा जिले की एक शिक्षिका नकुशा किर्दत अपने मां बाप की तीसरी संतान थी। उसके जन्म के बाद उसे नकुशा कहा गया। उसी नाम को लेकर वह स्कूल और कॉलेज गई। नकुशा अपने परिवार की एक मात्र स्नातक है। आज वह स्कूल में शिक्षिका है। उसकी शादी हो चुकी है और वह दो बेटों की मां है। उसका भी नामकरण हुआ। अब वह नकुशा से श्रुति हो गई। नकुशा किर्दत की चाह थी कि जब उसके घर बेटी होगी तो वह उसका नाम श्रुति रखेगी। बेटी तो उसके घर नहीं आई. लेकिन उसने वही नाम अपनाया. जो उसने अपने बेटी के लिए सोचा था। सतारा जिले के पास पुणे जिले के नन्हे गांव की सरपंच नकुशा भूमकर सात बहनें हैं। उसका जन्म तीन बहनों के बाद हुआ तो उसे नकुशा कह कर संबोधित किया गया। शादी के बाद भी ससुराल में वह नकुशा बनी रही। गांव की सरपंच बनने के बाद भी उन्हें नकुशा ही कहा जाता था। कुछ महीने पहले गांव वालों ने अपने सरपंच का नामकरण किया। नकुशा भूमकर अब जयश्री भूमकर के नाम से जानी जाने लगी। जयश्री बनने के बाद नकुशा ने इस बात को स्वीकारा कि नकुशा नाम की आदत भले ही उसे पड़ गई थी, लेकिन हमेशा अनचाही होने का दुख उसे सताता था। जिससे अब उसने छुटकारा पाया।

यह एक विचित्र संयोग ही कहलाएगा कि 222 नकुशा जिस जिले में पाई गईं वो सतारा मराठों की राजधानी कहलाता है। वर्षों छत्रपति के वंशजों ने यहां से राज्य चलाया। छत्रपति शिवाजी को राजा शिवाजी बनाने वाली महिला ही थीं। अपने जन्म के पहले ही अपने पिता से दूर शिवाजी को उनकी मां जीजाबाई ने ही इस लायक बनाया कि उन्होंने मराठा राज्य की स्थापना की। आज उसी छत्रपति के सतारा में लड़कियों को नकुशा कह कर संबोधित किया जाता है। लेकिन अनचाही को चाहती बनाने का राज्य सरकार का यह कार्यक्रम तारीफ के काबिल है।

अब बिना डर के जीना सीखेंगी महिलाएं

आवाज उठाओ मुहिम का पायलट प्रोजेक्ट शुरू

अमर उजाला ब्यूरो

गीता कॉलोनी। 90 फीसदी महिलाएं राजधानी को असुरक्षित मानती हैं और उन्हें घर से बाहर छेड़छाड़ व यौन उत्पीड़न का डर सताता रहता है। महिलाओं के इस डर को दूर करने के लिए सरकार ने आवाज उठाओ मुहिम शुरू की है। महिला व बाल विकास मंत्री डॉ. किरण वालिया ने बृहस्पतिवार को पूर्वी जिला उपायुक्त कार्यालय में गुब्बारे छोड़कर व कैंडल मार्च में हिस्सा लेकर मुहिम का उद्घाटन किया।

डॉ. किरण वालिया ने कहा कि सड़कों व पुलों से शहर नहीं बनता, वह सभ्यता से बनता है। शहर के लोगों में सभ्यता संस्कारों से आती है। महिलाओं की चुप्पी का फायदा यौन उत्पीड़न करने वाले उठाते हैं, लेकिन अब इस चुप्पी को तोड़ने की जिम्मेदारी महिलाओं के साथ पुरुषों पर भी है। सूर्योदय भी पूर्व से होता है, इसलिए आवाज उठाओ के पायलट प्रोजेक्ट की शुरुआत भी पूर्वी जिले से की जा रही है। इस मुहिम में हमें महिलाओं के साथ पुरुषों की सहभागिता भी चाहिए।

बता दें कि आवाज उठाओ मुहिम महिला व बाल विकास मंत्रालय व सामाजिक सुविधा संगम की योजना है। इस योजना के पीछे जागो री संस्था का एक सर्वे मुख्य रूप है।

क्या है योजना

सामाजिक सुविधा संगम की निदेशक श्यामी सोढी ने योजना की जानकारी देते हुए बताया कि इस योजना को मूल रूप से तीन एजेंसियां चलाएंगी। इनमें महिला व बाल विकास विभाग, जीआरसी (जेंडर रिसोर्स सेंटर) व जागो री संस्था होगी। पायलट प्रोजेक्ट के रूप में फिलहाल 15 जीआरसी यह कार्यक्रम चलाएंगे। यह जीआरसी महिला व पुरुषों के समूह बनाएंगे, जोकि कॉलोनियों में महिलाओं के लिए माहौल को देखेंगे और उसमें सुधार करवाएंगे। इन समूहों को ट्रेनिंग देने की जिम्मेदारी जागो री संस्था को दी गई है।

लापता लड़कियां

नक्सल डायरी

आशुतोष भारद्वाज

सत्रह नवंबर। गांव ठूंठी अंबा। जशपुर।

नवंबर के पहले सप्ताह में जब यह प्रदेश अपनी स्थापना के ग्यारह वर्ष पूरे होने पर भव्य उत्सव मना रहा था, इस सुदूर गांव की दो लड़कियां दिल्ली से वापसी-यात्रा शुरू कर रही थीं। दो साल बाद घर लौटती सोलह और अठारह की इन लड़कियों के पास सिर्फ टिकट लायक रुपए थे। वे पहले रांची पहुंचती हैं, फिर तकरीबन पांच सौ किलोमीटर दूर अपने घर- ठूंठी अंबा।

ये लड़कियां, जशपुर और सरगुजा की सैकड़ों आदिवासी लड़कियों की तरह, राजधानी के घरों में काम कर रही थीं। माता-पिता ने भेजा था कि कुछ कमा लाएंगी, लेकिन उन्हें कुछ नहीं मिला था। हजार रुपए मासिक तनख्वाह 'प्लेसमेंट एजेंसी' रख लिया करती थी। दो साल बाद भी कुछ नहीं, घर वापसी निर्विकल्प।

वे तकदीरवान थीं, लौट आईं। उनमें से एक की छोटी बहन चार साल पहले हैदराबाद भेजी गई, जब वह सिर्फ दस की थी, तबसे कोई खबर नहीं। उसका पिता झोपड़ी के अंधेरे को टटोल कर एक मुचड़ा कागज निकाल लाता है, जैसे अंधे कुएं से पकड़ा कोई मरा चूहा। कागज पर अंग्रेजी में पता लिखा है, एक फोन नंबर भी- बंजारा हिल्स। हैदराबाद की मंहगी आवासीय कॉलोनी। पिता अंग्रेजी नहीं पढ़ पाता, उसे नहीं मालूम कौन-सी जगह है यह।

- मेरी लड़की यहां काम करती है। फोन करने पर कहते हैं इतनी छोटी को अकेले कैसे भेजेंगे, आकर ले जाओ चाहो तो।

पिता, मां और दिल्ली से लौटी बड़ी बहन कच्ची झोपड़ी के बाहर इस शाम बैठे हैं। ढेका पहाड़ियों से घिरा झारखंड की सीमा छूता गांव। इस गांव और यहां से आठ किलोमीटर दूर आरा पंचायत तक बिजली का तार, खंभा नहीं। बीहड़ पहाड़ी जंगल- सड़क भी नहीं। साइकिल से यहां तक आया जाता है।

राजधानी रायपुर में कई दिनों से राज्य के 'पावर सरप्लस' होने का जश्न। पांच सौ किलोमीटर रायपुर छूने में अपनी कार से भी पंद्रह-सोलह घंटे लगेंगे।

दिल्ली में कैसा जीवन था? दोनों लड़कियां खुले पथरीले मैदान को ताकती रहती हैं। हंसने, दुखी होने की सहज मानवीय क्रिया उनके जैविकीय व्याकरण से विलुप्त। आक्रोश ठंडी आंखों में जम कर ठोस सफेद बर्फ बन चुका है। कठोर, चिकनी बर्फ। कुछेक जगहों के नाम बस याद रह गए हैं- राजौरी गार्डन, जनकपुरी।

कोई पड़ोसी दोपहर से मछली पकड़ने गया लकड़ी का बारदाना लिए खाली हाथ लौटा है, उनको बाहर बैठा देख अटक जाता है।

जशपुर में पचासी प्रतिशत आदिवासी। पूर्व मुख्यमंत्री का दावा है कि जिले की बीस हजार लड़कियां गायब हैं, 'प्लेसमेंट एजेंसी' उन्हें फुसला कर महानगर ले गई थीं। वे अब लापता हैं। एनजीओ भी ऐसा ही कुछ बताते हैं। लेकिन पूरे जिले में पिछले पांच-छह साल में पुलिस रजिस्टर में सौ एक गुमशुदा शिकायतें ही दर्ज हैं।

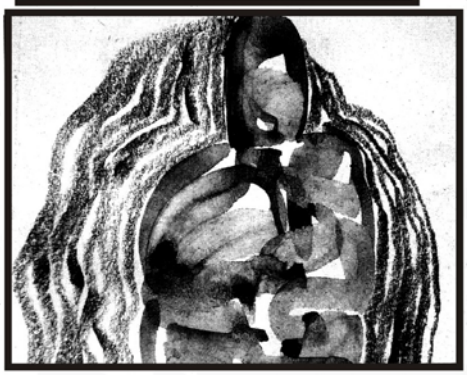

ये बच्चियां कभी खबर नहीं बनती दिखाई देती। महानगर का तिलिस्म इन्हें चुपचाप डकार जाता है। इन्हें स्कूल, खिलौने, सखियां, सपनों की मोहलत या सहूलियत नहीं। बांद्रा या ग्रेटर कैलाश के घरों में काम करती ये कई साल बाद विद्रोह करती हैं, और तब पुलिसिया चुस्ती इन्हें किसी होटल के कमरे से गिरफ्तार करती है।

'अगर इतनी बड़ी संख्या में लड़कियां गायब होंगी तो क्या थाने में शिकायत नहीं होगी?' पुलिस अधिकारी पूछते हैं। 'प्लेसमेंट एजेंसी' के कुछ दलाल छुटे-छमासे गिरफ्तार होते रहते हैं, कानून का खुशनुमा माहौल-सा बना दीखता है।

आंकड़े बेईमान हो सकते हैं, होते भी हैं। यह मसला आंकड़ों का है भी नहीं। यह सामूहिक ग्लानि है। शर्म नहीं, ग्लानि। रामचंद्र शुक्ल कहते थे, शर्म से आप मुंह मोड़ सकते हैं, ग्लानि तकिए में चेहरा गड़ा देने के बावजूद खाए जाती है।

दस से चौदह साल की आदिवासी बच्चियां प्रमुख राजधानियों के कुंए में फेंक दी जाती हैं। कोई रस्सी नहीं, जिसे थाम कर वे ऊपर आ सकें। कानून चुपचाप लागू रहता है- चौदह से कम उम्र के बच्चों से काम लेना दंडनीय अपराध है।

ये बच्चियां कभी खबर नहीं बनती दिखाई देतीं। महानगर का तिलिस्म इन्हें चुपचाप डकार जाता है। इन्हें स्कूल, खिलौने, सखियां, सपनों की मोहलत या सहूलियत नहीं। बांद्रा या ग्रेटर कैलाश के घरों में काम करती ये कई साल बाद विद्रोह करती हैं, और तब पुलिसिया चुस्ती इन्हें किसी होटल के कमरे से गिरफ्तार करती है। दुपट्टे से ढके चेहरे वाली इनकी तस्वीर अखबार को दर्शनीय बनाती है। पुलिस रजिस्टर में इनका नाम दर्ज होता है। कई साल की लापता ये लड़कियां अचानक पा ली जाती हैं।

इस गांव की सबसे नजदीकी पुलिस चौकी, आरा चौकी, पर कुछ साल पहले बड़ा नक्सली हमला हुआ था। नक्सली चौकी लूट ले गए थे। सिपाहियों को कतार में खड़ा कर गोली दागी थी।

यह हमला उसी वक्त हुआ था जब इस इलाके की कई लड़कियों को एक 'प्लेसमेंट एजेंसी' ट्रैक्टर में भर कर ले जा रही थी। कोई समझ नहीं पाया क्यों।

••

पांच दिसंबर।

किशनजी की मृत्यु के विरोध में नक्सलियों का सप्ताह बंद। पिछले कई दिनों से बीजापुर, दंतेवाड़ा में परचे बिखरे मिलते हैं, कलेक्टर, पुलिस अधिकारियों को मारने की धमकी। निर्माणाधीन स्कूल में काम करते मिस्त्री का हाथ काट लिया। रेल की पटरियां उखाड़ दीं। यात्री बस जंगल में रुकवा दी, यात्रियों को रात भर धमकाया। कांकेर में टिफिन बम बरामद। पूरे बस्तर क्षेत्र में उत्पात।

ठीक है, लें बदला। जरूर लें। आपका नेता मारा गया है तो कुछेक लाश आप भी टपकाएं, 'बुर्जुआ व्यवस्था' को ध्वस्त करें। बंदूक क्रांति कर डालें। लेकिन भाई साहब, यह तो बताएं कि तीन महीने से नक्सल-पूंजीवाद गठजोड़ के सबूत लगातार सामने आ रहे हैं, आप चुप क्यों हैं? क्यों इन सबूतों का खंडन नहीं है? नक्सलियों द्वारा इस प्रदेश में कार्यरत बड़ी कंपनियों से हफ्ता लेने की अफवाहें बहुत पुरानी हैं, लेकिन पहली मर्तबा ऐसी एक कंपनी के प्रमुख अधिकारी समेत चार गिरफ्तारियां हाल ही हुईं, साक्ष्य सामने आए, अखबार लगातार लिखते रहे- नक्सल पूंजीपतियों से चंदा उगाही की व्यवस्था बने- लेकिन किसी नक्सल नेता या उनके समर्थक का अपने संगठन को इससे अलग करते हुए कोई बयान नहीं आया।

बहुराष्ट्रीय कंपनियां, पुलिस के मुताबिक, करोड़ों रुपया सालाना लाल-क्रांतिकारियों को देती हैं, जिसके एवज में जंगल और आदिवासी भूमि के ये स्वयंभू रक्षक उन्हें चुपचाप प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करने देते हैं। पुलिस इन इलाकों में पहुंच नहीं पाती। खनिज में डूबी इस प्रदेश की मिट्टी इन कंपनियों की बपौती होती गई है। हवा में कालिख सिमटती गई है, लेकिन लालधारी बेफिक्र हैं। उन्हें हफ्ता जो मिलता रहता है।

क्रांति की तलवार घुमा कर यात्री बस को रोक लेंगे, लोगों को धमकाएंगे, उनके मोबाइल फोन छीन लेंगे। सरपंच और छुटभैये दुकानदार का कत्ल करेंगे, लेकिन कंपनी का चंदा भी डकारेंगे।

यह मामला, गिरफ्तारियां और लालधारियों की चुप्पी नक्सल आंदोलन, अगर इसे आंदोलन जैसा माना जाए तो, के लिए एक बड़ी चुनौती है। यह उस मिथक को भस्म करता है, जिसे चमकते पीतल की गोली की नोक से नक्सली लिखते आ रहे हैं। यह क्रांति की मिथकीय धातु से बना नक्सली का अभेद कवच ध्वस्त कर उसे एक टुच्चे, बेशर्म ठग में तब्दील करता है, जो जिन वनवासियों के हितों की रक्षा के लिए लड़ने का हलफ उठाए घूमता है, असल में उन्हें ही छलता है, उनके ही वनों का सौदा करता है। दिन में लाल सलाम ठोंकता है, रात अपने स्वघोषित दुश्मन 'पूंजीपति' द्वारा फेंके गए गोश्त को चबाता है। जो खाता और गुर्राता भी है। काटना, जाहिरा तौर पर, वह भूल चुका है। बूढ़ी औरतें अपने नकली दांत निकाल कर रात को पानी में रख देती हैं, नक्सली अपने दांत 'पूंजी' के सलपफ्यूरिक अम्ल में डुबो कर पसर जाता है। पोपला नक्सली अब महज संभावना नहीं है।

इतिहास में यह अंत भी चुपचाप ही आएगा। ❑

घरेलू कामगारों के पेंशन का मुद्दा 3

महाराष्ट्र सरकार ने घोषणा की है कि राज्य में घरेलू कामगारों को एक हजार रुपया प्रतिमाह पेंशन मिलेगी तथा प्रतिवर्ष 30 हजार रुपए की स्वास्थ्य बीमा की सुविधा दी जाएगी। लेकिन यह योजना 30 साल से कम उम्र के कामगारों के लिए ही है। इन्हें अगले 20 साल तक हर वर्ष एक हजार रुपए संबंधित विभाग के खाते में जमा करना होगा तथा इतनी ही राशि सरकार उस खाते में डालेगी और बीस साल बाद उन्हें प्रतिमाह एक हजार रुपए का पेंशन मिलेगा। अभी से हजारों की संख्या में कामगार इस योजना में अपना पंजीकरण राज्य कल्याण कार्यालय में करा चुके हैं। इस योजना में दुर्घटना या असमय मृत्यु होने पर मुआवजे की बात भी की गई है।

घरेलू कामगारों की सामाजिक सुरक्षा की बात सालों से हो रही है। खुद महाराष्ट्र सरकार ने उपरोक्त योजना 2006 में ही तैयार की थी लेकिन उसे अब लागू किया जा रहा है। वैसे तो जहां कुछ भी नहीं मिलता हो वहां थोड़े की भी गुंजाइश बनती है तो उसकी प्रशंसा ही होनी चाहिए। कम से कम समस्या को कुछ तो संबोधित किया गया। इसके साथ दो बातों पर ध्यान जाना लाजिमी है। एक तो यह पर्याप्त नहीं है। कोई भी अंदाजा लगा सकता है कि आज से 20 साल बाद मात्र एक हजार रुपए की क्या कीमत होगी। दूसरे, केंद्र सरकार के कामकाज में यह विषय क्यों नहीं एजेंडा पर आ रहा है? घरेलू कामगार तो अब हर छोटे-बड़े शहरों में मिलेंगे। सरकार ने उनके लिए कुछ नियम-कानून की बात जरूर की है लेकिन पेंशन एक बड़ा मुद्दा है, जो न सिर्फ घरेलू कामगार बल्कि सैकड़ों छोटे-मोटे रोजगार तथा अनौपचारिक असंगठित क्षेत्र के कामगारों का मसला है। हर व्यक्ति जो ऐसे किसी सरकारी या निजी कंपनी की नौकरी में नहीं है, जहां अवकाशप्राप्त करने के बाद उसे कुछ नियमित आय होता रहे, उसके लिए ऐसी योजना की दरकार है। एक समय बाद इंसान अशक्त होता है और उसे आर्थिक सहारे की आवश्यकता होती है, सिर्फ उन्हें छोड़ कर जिनके पास पर्याप्त संपत्ति और साधन हों। थोड़ी चिंता और बचत तो हर कमानेवाला या कमानेवाली व्यक्ति अपने बुढ़ापे के लिए कर सकता है। लेकिन जिसकी स्थिति रोज कमाने और रोज खाने की हो वह बचत क्या करेगा और यह स्थिति सरकारें भी जानती हैं। इसलिए एक निश्चित अवस्था के बाद निर्धारित आय की व्यवस्था अहम मुद्दा है ताकि आखिरी पड़ाव गरिमामय बीत सके।

पेंशन के अलावा घरेलू कामगारों के लिए आज इस काम को औपचारिक काम का दर्जा मिलना भी जरूरी है। आने वाले दिनों में जैसे-जैसे एकल परिवार बढ़ते जाएंगे तथा परिवार के वयस्क सदस्य काम करने बाहर जाएंगे वैसे-वैसे मदद की जरूरत बढ़ती जाएगी। पिछले दिनों दिल्ली हाईकोर्ट ने दिल्ली सरकार से कहा था कि वह घरेलू नौकरों के हितों की रक्षा के लिए कानून बनाए ताकि उनके साथ दुर्व्यवहार, वेतन नहीं देने, वेतन कम देने या यौन उत्पीड़न जैसे अपराधों से निपटा जा सके। कोर्ट ने श्रम विभाग को भी निर्देश दिया है कि घरेलू नौकर उपलब्ध करानेवाली प्लेसमेंट एजेंसियों का रजिस्ट्रेशन अनिवार्य किया जाए। दिल्ली पुलिस की तरफ से नौकरों की पहचान का सत्यापन कार्य गत वर्ष कराया गया था। पुलिस के लिए भी कोर्ट के खंडपीठ ने आदेश दिया है कि वह नौकरों के वेरिफिकेशन के साथ प्लेसमेंट एजेंसियों के रेकॉर्ड भी मेंटेन करें। ज्ञात हो कि इस मामले में बचपन बचाओ आंदोलन की तरफ से दायर जनहित याचिका की सुनवाई चल रही थी।

सरकार कब पुख्ता कानून बनाने की पहल करती है यह तो आगे देखनेवाला मसला है। इसमें कोई दोराय नहीं कि इस घरेलू काम के क्षेत्र को नियमित और व्यवस्थित तथा जवाबदेह बनाने की जरूरत है। सेवा क्षेत्रों भी अन्य नौकरियों की तरह रेग्युलेट हो तो यह भी एक व्यापक क्षेत्र बन सकता है, जहां रोजगार की संभावना है। हमारे समाज की पिछड़ी सोच इस क्षेत्र को औपचारिक सेवा क्षेत्रा के रूप में विकसित करने में बाधा बन सकती है। क्योंकि लोगों को सिर्फ अपने घरेलू काम में मदद नहीं बल्कि काफी हद तक उन्हें एक दास या दासी चाहिए जो उनका हुकूम भी बजाए। कई लोग उनके साथ बराबरी का व्यवहार नहीं करेंगे और संभव है कि धीरे-धीरे घरेलू कामगार भी अन्य कामगारों की तरह एकजुट हों और मालिक-मालकिन के साथ बराबर से पेश आएं।

जरूरी नहीं है कि कानून बनाने से हर मालिक मालकिन को नुकसान ही होगा बल्कि जो आराम से शोषण उत्पीड़न कर लेते हैं उन पर लगाम कसेगा। कई जिन्हें कामगार की गरिमा और पारिश्रमिक की शर्तें मंजूर होंगी और जिन्हें मदद करने वाले हाथों की जरूरत होगी, वे औपचारिक रूप से रजिस्टर्ड प्लेसमेंट एजेंसियों से सेवा दाता प्राप्त कर सकते हैं।

नए रोजगार क्षेत्रों में बढ़े भागीदारी

स्त्री शक्ति

भारत डोगरा

महंगाई व अन्य कारणों से शहरी निर्धन परिवारों में महिलाएं आजीविका के नए स्रोत तलाश रही हैं। ऐसे अनेक परिवार जो पहले ठीक से गुजर-बसर कर लेते थे अब न केवल बढ़ती महंगाई से त्रस्त हैं बल्कि विभिन्न कारणों से अनेक परिवारों की रोजी-रोटी भी खतरे में पड़ी है। कहीं झोपड़ियां तोड़ने के कारण लोगों को आजीविका के स्थान से दूर जाना पड़ा, तो कहीं नई नीतियों व नियमों के कारण उनके रोजगार ठप्प हो गए। ऐसी स्थिति में रोजगार तलाशने वाली निम्न और निम्न मध्यवर्गीय महिलाओं की संख्या खासी बढ़ी है।

कुछ परिवार सामाजिक बुराइयों के कारण भी संकटग्रस्त हुए हैं जैसे शराबखोरी व दहेज का प्रकोप। इनने उपजी समस्याओं का सामना करने के लिए प्रायः इन्हें ऊंचे ब्याज पर कर्ज लेना पड़ता है और कुछ को न्यूनतम जरूरतें पूरी करने के लिए भी कर्ज लेना पड़ता है। ऐसे में ऊंचे ब्याज के कारण गरीबी व कर्ज के दुष्चक्र से बाहर निकलना कठिन हो जाता है। कुछ परिवारों व आस-पड़ोस के माहौल के कारण भी अनेक महिलाएं रोजगार के नए अवसरों की जरूरत महसूस करती हैं। और कोई निश्चित अवसर मिलने पर ही उन्हें घर से बाहर निकलने का अवसर नियमित तौर पर मिलता है। बदलते सामाजिक परिवेश में स्त्री शिक्षा जागरूकता के चलते भी नए रोजगार स्रोतों की ललक बढ़ी है। स्त्रियां अब परंपरागत रोजगार के दायरे से बाहर निकल कुछ नया करना व आजमाना चाहती हैं।

सिलाई-कढ़ाई जैसे रूटीन रोजगारों की उपयोगी भूमिका यथावत है पर महिलाएं उससे आगे भी खोज रही हैं। अब तक स्लम बस्तियों में निर्धन परिवारों के लिए घरेलू कर्मी या डोमेस्टिक वर्कर के रूप में आजीविका सबसे बड़ा स्रोत रही है पर महिलाओं की शिकायत है कि इससे उन्हें न तो न्यायसंगत मजदूरी मिलती है, न प्रगति के अवसर उपलब्ध होते हैं। कार्य स्थितियां भी आत्मसम्मान के अनुकूल नहीं होती हैं। फैक्ट्रियों में नए रोजगार अवश्य

उत्पन्न हुए हैं, पर प्रायः वहां महिला मजदूरों का काफी शोषण होता है। अतः कुछ महिला-संगठनों ने ठानी है कि आर्थिक कठिनाई झेल रहे शहरी परिवारों की महिलाओं के रोजगार के लिए नए चुनौती भरे, संभावना भरे अवसर उत्पन्न किए जाएं ताकि उनकी आकांक्षाओं और क्षमताओं को रचनात्मक अभिव्यक्ति मिल सके।

बाबा आमटे कहते थे कि निर्धन परिवारों को दया नहीं बल्कि उचित अवसर चाहिए। वास्तव में निर्धन परिवारों में जुझारूपन है, क्षमता है, ललक है, उत्साह है पर प्रायः पूंजी, साधन, शिक्षा, जानकारी आदि के अभाव में उनका सारा उत्साह कुंद पड़ जाता है और वे संकीर्ण दायरे से बाहर नहीं निकल पाते हैं। अतः यह बहुत जरूरी है कि क्षमता, उत्साह और जरूरतों को जोड़ने वाले अवसर समाज में उत्पन्न किए जाएं।

महिलाओं के लिए रोजगार के नए स्रोतों पर कार्य करने का यह अर्थ नहीं है कि जिन रोजगारों में महिलाएं पहले ज्यादा रही हैं उन्हें उपेक्षित किया जाए। बल्कि घरेलूकर्मियों के न्याय व सुरक्षा के लिए कार्य करना तो बहुत जरूरी है। इसी तरह सिलाई-कढ़ाई जैसे घर में ही उपलब्ध कार्यों की गुणवत्ता और आय दोनों को सुधारा जा सकता है व इन महिलाओं की सामाजिक सुरक्षा के लिए भी बहुत कुछ किया जा सकता है। महिला फैक्ट्री मजदूरों को शोषण से बचाना बहुत जरूरी है। इन सबके साथ ही रोजगारों के नए अवसर तलाशना बहुत जरूरी है। कारण महंगाई के जमाने में पहले से चले आ रहे रोजगार के स्रोत काफी नहीं हैं दूसरे, महिलाओं के नए रोजगारों में प्रवेश करने का व्यापक सामाजिक महत्व भी है। इससे सामाजिक गतिरोध टूटता है, फैलाये गए मिथक टूटते हैं। प्रायः निर्धन बस्तियों में महिलाओं को दो-चार रोजगारों तक सीमित कर दिया जाता है पर जब उनकी योग्यता, प्रतिभा और कुशलता नए क्षेत्रों में उजागर होती है तो फैलाए गए मिथक टूटते हैं। यानी समाज की रचनात्मक क्षमता बढ़ती है और महिलाओं की क्षमता उजागर होने के बेहतर अवसर मिलते हैं।

इसके लिए जरूरी है उचित जानकारी पहुंचाने, प्रशिक्षण व्यवस्था करने व प्रशिक्षण को नए रोजगारों से जोड़ने पर नियोजित ढंग से कार्य करने की। आजाद फाउंडेशन की सेक्रेटरी मीनू वढेरा का मानना है कि इस कार्य को लिंग आधारित भेदभाव समाप्त करने व न्यायसंगत समाज बनाने के व्यापक उद्देश्यों से जोड़कर आगे बढ़ाना चाहिए। फाउंडेशन का मानना है कि महिलाओं के किन नए रोजगारों पर अधिक ध्यान केंद्रित किया जाए, इसके लिए कुछ मानदंड निर्धारित होने चाहिए। जरूरी है इनमें न्यायसंगत आय हो, प्रगति के पर्याप्त अवसर हों, कार्य महिलाओं की गरिमा व आत्म-सम्मान के अनुकूल हो। पर संस्थान के अनुभवों बताते हैं कि सामाजिक संकीर्णताओं से जुड़ी कई बड़ी बाधाएं पार करने के लिए काफी मेहनत करनी होगी। सामाजिक कार्यकर्ताओं के जमीनी अनुभव बताते हैं कि बड़ी उपलब्धियों की संभावना के साथ कई कठिन चुनौतियों के लिए भी तैयार रहना चाहिए, तभी सफलता मिल पाएगी।

बढ़ती झुग्गियों का देश

ज्ञानेंद्र रावत

बीच बहस में

देश में तेजी से हो रहे शहरीकरण और बहुमंजिली अट्टालिकाओं की बढ़ती तादाद के बीच जिस गति से महानगरों में झुग्गियों की संख्या में बढ़ोतरी हो रही है, वह चिंता का विषय है। सरकार ने पिछले वर्ष दावा किया था कि अगले चार वर्षों में राजीव गांधी आवास योजना के तहत देश को झुग्गी मुक्त करा लिया जाएगा। लेकिन यदि यही हाल रहा, तो अगले तीन वर्षों में देश को झुग्गी मुक्त करने का सरकारी दावा टांय-टांय फिस्स हो जाएगा।

झुग्गियों में रहने-बसने वाले गरीबों को अकसर बोझ की तरह देखा जाता है, जबकि इन्हीं के श्रम के बलबूते शहरों का नवीनीकरण संभव हुआ है। दूसरों के रहने-बसने के लिए इमारतों का निर्माण करनेवाले ये मजदूर खुद झुग्गियों में जीवन की मूलभूत सुविधाओं के अभाव में रहने को मजबूर हैं। उन्हें सामाजिक सुरक्षा देने की बात का तो सवाल ही कहां उठता है।

आज देश में झुग्गियों में रहने वालें लोगों का आंकड़ा नौ करोड़ के पार पहुंच चुका है। जबकि वर्ष 2001 में यह संख्या सात करोड़ 52 लाख छह हजार के करीब थी। आंकड़ों के अनुसार, देश की शहरी आबादी का एक चौथाई हिस्सा और महाराष्ट्र का एक तिहाई से ज्यादा हिस्सा झुग्गियों में रहने को मजबूर है। अकेले दिल्ली में आबादी का 17 फीसदी हिस्सा यानी करीब 31 लाख लोग झुग्गियों में रहते हैं। चंडीगढ़ की 25 फीसदी आबादी झुग्गियों में रहती है। यह आंकड़ा झुग्गियों में रहनेवाले लोगों की मौजूदा संख्या से संबंधित विभिन्न पहलुओं की जानकारी उपलब्ध करानेवाली योजना आयोग के प्रमुख सलाहकार डॉ प्रणब सेन की अध्यक्षता वाली उच्च स्तरीय समिति की रिपोर्ट का है। देश के 3,799 शहरों समेत कुल 5,161 शहरी क्षेत्रों में रहनेवाली झुग्गी आबादी में सबसे अधिक महाराष्ट्र में है, जहां 1,81,51,071 लोग झुग्गियों का नारकीय जीवन जीने को मजबूर हैं। उसके बाद नंबर उत्तर प्रदेश का आता है, जहां 1,08,78,336 लोग झुग्गियों में रहते हैं। तीसरा स्थान आंध्र प्रदेश का है, जहां 81,88,022 लोग झुग्गियों में रहते हैं। चौथे नंबर पर मध्य प्रदेश, 63,93,040, पांचवें स्थान पर हरियाणा, 32,88,022 और छठवें स्थान पर देश की राजधानी दिल्ली है, जहां 31,63,640 लोग झुग्गियों में रहते हैं। फिर बिहार और उत्तराखंड का नंबर आता है, जहां क्रमशः 16,83,954 व 8,26,257 लोग झुग्गियों में रहते हैं। बिहार की राजधानी पटना में झुग्गी में रहने वालों की तादाद केवल तीन फीसदी ही बताई गई है, जबकि गैर अधिसूचित झुग्गियों में रहनेवालों को उसमें शामिल ही नहीं किया गया है।

झुग्गी बस्तियों की बदहाली का आलम यह है कि वहां रिहाइश, पेयजल, स्वास्थ्य-शिक्षा आदि की सुविधाएं देने की जरूरत समझी ही नहीं जाती। विडंबना देखिए कि इन्हें वोट बैंक की तरह इस्तेमाल तो किया जाता है, लेकिन पर्याप्त सुविधाएं नहीं दी जाती। जो सुविधाएं दी जाती हैं, वह एहसान मानकर दी जाती है। अधिकांशतः शहरों में झुग्गियों में रहनेवाले 40 फीसदी लोग असंगठित क्षेत्रों में मजदूरी करते हैं।

अकसर देखा गया है कि ग्रामीण क्षेत्रों की तरह ही इन शहरी गरीबों के कल्याण के लिए बनी योजनाओं में स्वरोजगार पर ज्यादा जोर दिया गया, जिसका समुचित लाभ इन्हें नहीं मिल सका। जबकि इनके लिए आवास और सार्वजनिक सुविधाओं की उपलब्धता पर ज्यादा जोर देने की जरूरत है। वैसे सरकार का अब प्रयास है कि झुग्गी बस्ती की नई परिभाषा के अनुसार, मूलभूत जरूरतों से महरूम 20 से अधिक घरों की बसावट को बस्ती माना जाए। इसके अलावा उन शहरों में भी झुग्गी बस्तियों की गणना की जाए, जहां 20 हजार से कम आबादी है। राजीव गांधी आवास योजना की सफलता तभी संभव है, जब इसका सटीक आकलन हो। शहरी आवास व गरीबी उन्मूलन मंत्रालय रजिस्ट्रार जनरल कार्यालय के साथ मिलकर काम करे, तभी झुग्गी बस्तियों की पहचान हो सकेगी।

अब झुग्गी बस्तियों में रहने वालों के नए आंकड़े मौजूद हैं, इसलिए यह देखना होगा कि सरकार झुग्गी बस्तियों में हर साल जनसंख्या में दो फीसदी की बढ़ोतरी को कैसे रोकने में समर्थ होगी। अनुमान है कि वर्ष 2017 तक में 10 करोड़ 44 लाख लोग झुग्गियों में रहने वाले होंगे। यदि ऐसा हुआ, तब समस्या और विकराल हो जाएगी।

साल भर बाद भी पेयजल के मानवाधिकार अधूरे

सुभाष गाताडे

लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं।

सभी के लिए अच्छा एवं साफ पानी उपलब्ध कराने में राज्य की नाकामी ने ऐसी स्थिति पैदा की है कि पानी को लोगों तक पहुंचाने के काम में कार्पोरेट समूहों के वारे न्यारे होते दिख रहे हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की आम सभा द्वारा बहुमत से स्वच्छ पीने के पानी एवं सैनिटेशन तक सुगमता को बुनियादी मानवाधिकारों में शुमार किए जाने की पहली सालगिरह (28 जुलाई) पर हुए आयोजनों में सबसे आगे रहा लातिन अमेरिका का छोटा-सा मुल्क बोलीविया। इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में पानी के वितरण आदि को विदेशी कार्पोरेट समूहों को सौंपने के खिलाफ चले आंदोलनों में दुनिया भर में बोलीविया ने नजीर कायम की है। कूचाचाम्बा नामक शहर के पानी उद्योग को जब फ्रांसिसी कंपनी को सौंपा गया था, तब पूरे मुल्क में भूचाल आ गया था।

जब आम सभा में प्रस्ताव रखने की बारी आई तो उसे बोलीविया के राजदूत ने ही 33 देशों के सहयोग से रखा। पिछले साल जब आम सभा में इस प्रस्ताव पर मतदान हुआ था तब वहां उपस्थित 41 देश -जिनमें से अधिकतर औद्योगिकीकृत थे - ने मतदान में भाग नहीं लिया था। यहां तक कि संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा और ब्रिटेन ने प्रस्ताव पर वोट डाले जाने का ही विरोध किया। आज की तारीख में दुनिया भर में 90 करोड़ लोग 'सुरक्षित एवं साफ पीने के पानी से वंचित हैं' और 260 करोड़ लोगों के पास बुनियादी सैनिटेशन की कोई सुविधा नहीं है। संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा संग्रहित आंकड़े बताते हैं कि पानी एवं सैनिटेशन की कमी से जुड़ी बीमारियों के चलते हर साल 15 लाख बच्चों की पांच साल के अंदर ही मौत हो जाती है।

यह सवाल पूछा जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की आम सभा के इस निर्णय को क्या कानूनी ढंग से लागू करवाया जा सकता है? नहीं! फिर जिस तरह विश्व के निवासियों को नस्लीय भेदभाव, यातना से रहित माहौल में जीने का अधिकार है, जिस तरह लोगों के लिए भोजन का अधिकार है, उसी कड़ी में इस अधिकार के जुड़ने के क्या मायने हैं?

निश्चित ही प्रतीकात्मक तौर पर इसकी बहुत अहमियत है, जो इस बात को रेखांकित करता है कि विश्व की बढ़ती आबादी के लिए पानी की कमी कितना बड़ा ज्वलंत मसला बना है। यह प्रस्ताव विभिन्न राष्ट्रीय सरकारों पर इसे पूरा करने की अधिक जिम्मेदारी डालता है।

पानी की कमी और कृषियोग्य जमीनों के रेगिस्तान बनने की परिघटना पहले अफ्रीका एवं एशिया की समस्या समझी जाती थी, मगर अब यूरोप को भी इसे झेलना पड़ रहा है। दक्षिणी स्पेन में हर साल रेगिस्तान उत्तर की तरफ एक किलोमीटर बढ़ता जाता है। इसके अलावा पानी की कमी के चलते राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर नए विवादों की जमीन बनती दिख रही है। बड़ी बड़ी कंपनियों की पहल पर पानी की आपूर्ति के निजीकरण ने समस्या को और गंभीर बनाया है जिसके चलते हर साल ग्राहकों को अधिक कीमत देनी पड़ती है।

जहां तक राजधानी दिल्ली की बात है तो यह देखा जा सकता है कि यह पहली सालगिरह नागरिकों के लिए बेहद विपरीत समय पर आई है क्योंकि यही वह दौर है, जब पानी के निजीकरण के जरिए इस अधिकार को कमजोर किया जा रहा है। 'पब्लिक प्रायवेट भागीदारी' के नाम पर पानी के वितरण, सेवाओं के प्रबंधन तथा वाटर ट्रीटमेंट प्लांट से रखरखाव को कार्पोरेट समूहों को सौंपा जा रहा है। और इसके लिए तर्क यह दिया जा रहा है कि यहां पानी की कमी है। इस समस्या को संबोधित करने के लिए न समान वितरण, न रेनवॉटर हार्वेस्टिंग, न ऐसा कोई कदम उठाया जा रहा है जिससे पानी की बरबादी रुक सके। हाल में यह तथ्य उजागर हुआ था कि दिल्ली जल बोर्ड का आधा पानी यूं ही बह जाता है। निश्चित ही पानी के निजीकरण को पूरे मुल्क में लागू नवउदारवादी नीति से अलग नहीं माना जा सकता। सभी के लिए अच्छा एवं साफ पानी उपलब्ध कराने में राज्य की नाकामी ने ऐसी स्थिति पैदा की है कि पानी को लोगों तक पहुंचाने के काम में कार्पोरेट समूहों के वारे न्यारे होते दिख रहे हैं।

गौरतलब है कि पानी के निजीकरण के खिलाफ देश के अलग अलग हिस्सों में ही नहीं बल्कि बोलीविया, इटली जैसे मुल्कों में जबरदस्त संघर्ष चले हैं। कई सारे देश जिन्होंने पानी के निजीकरण को अंजाम दिया था, उन्हें सार्वजनिक नियंत्रण और वितरण की तरफ लौटना पड़ा है। जून माह में इटली के एक जनमत संग्रह में पानी के निजीकरण को खारिज कर दिया गया। इस साल फरवरी में, कर्नाटक के अलग-अलग नगरों के लोगों ने बंगलौर में एकत्रित होकर निजीकरण का विरोध किया। उनके विरोध का ही नतीजा था कि कर्नाटक सरकार को यह कहना पड़ा कि वह अमेरिकी ट्रेड मिशन के प्रतिनिधियों से मुलाकात भी नहीं करेगी।

subhash.gatade@gmail.com

ब्लैक एंड व्हाइट जिंदगी के रंगीन सपने

हौसलों की दास्तान

अमर उजाला-यूनिसेफ का अभियान

अमर उजाला unicef unite for children

4

कोलकाता से लौटकर

देव प्रकाश चौधरी

शायद उनकी ममता दीदी को बचकानी लगे यह बात, लेकिन कुछ बच्चे पूरे कोलकाता का नक्शा बदल देना चाहते हैं। बच्चों की इस जिद ने आकार लेना शुरू कर दिया है। और शुरुआत हुई है कोलकाता की ऋषि अरविंदो कॉलोनी से। कोलकाता के पूर्वी इलाके में रेलवे लाइन से सटे लगभग नौ हजार की आबादी वाले इस मोहल्ले में जिंदा रहने का एहसास आयकर की सीमाओं में है या नहीं, इस पर बहस हो सकती है, लेकिन यहां अब इस बात में किसी को शक नहीं कि उनके बच्चे बड़े हो गए हैं। छोटे-छोटे बच्चों ने मिलकर ऋषि अरविंदो कॉलोनी को पूरी दुनिया के सामने ला खड़ा कर दिया है। सुबह टिफिन लेकर काम पर निकलने वाले बाबुओं, पटरी पर कच्ची सब्जी लेकर बैठने वाले दुकानदारों, इटालियन सैलून पर काम करने वाले हज्जामों, नगर निगम की नलों से बेहद पतली धारों में बहते पानी को अपने-अपने बर्तनों में भरने के लिए लड़ती-झगड़ती महिलाओं और बीड़ी के धुएं के साथ मोहल्ले की समस्याओं को हवा में उड़ाते बुजुर्गों में से शायद किसी को भनक भी नहीं लगी और बच्चों ने मोहल्ले की तसवीर ही बदल दी। अब उन्हें लगने लगा है कि तकदीर भी बदलेगी।

ऋषि अरविंदो कॉलोनी में रहने वाले 13 साल के सलीम शेख को साल भर पहले का वह दिन याद है, जब वह इंटरनेट पर गूगल मैप में अपने मोहल्ले को खोज रहा था। अरे यह क्या! उसका मोहल्ला तो था ही नहीं। नवीं क्लास में पढ़ने वाले सलीम को इतनी समझ तो थी कि ऋषि अरविंदो कॉलोनी को कोलकाता के लोग एक स्लम से ज्यादा कुछ नहीं समझते, लेकिन इंटरनेट मैप पर तो उसके मोहल्ले को होना ही चाहिए। सलीम ने अपने दोस्तों से बात की। तय हुआ कि मोहल्ले का नया नक्शा बनाया जाए।

सलीम की इस जिद को उसी मोहल्ले के पूजा, निशा, संतु, अशित, लक्ष्मी, पायल, रिया, शिखा, राखी जैसे उसके दोस्तों का सहारा मिला। बाल सभा जुटी। फर्स्ट ईयर में पढ़ने वाली बच्चों की प्यारी दीदी अपर्णा दास को भी बच्चों ने बुलाया। कोई स्केच लाया, तो कोई कागज। कोई दौड़कर सेलोटेप ले आया, तो किसी के हाथ में कैंची थी। मोहल्ले के चप्पे-चप्पे से वाकिफ बच्चों ने अपना काम शुरू कर दिया। काम आसान नहीं था, लेकिन उत्साह आसमान में था। एक ने बनाया, दूसरे ने मिटाया। कई कागज बरबाद हुए। कई झगड़े हुए। रूठने और मनाने का दौर चलता रहा। आखिरकार बच्चों के इस प्रयास पर इलाके में वर्षों से काम कर रही एक स्वयंसेवी संस्था 'प्रयासम' की नजर पड़ी। प्रयासम के प्रोग्राम ऑफिसर प्रशांत रॉय और डायरेक्टर पाली मजूमदार ने बच्चों की जिद को सही आकार देने का फैसला कर लिया। ये वही बच्चे थे, जो प्रयासम के एकजुट और निर्माण कार्यक्रम में शरीक होते रहे थे।

मैप के लिए डाटा जुटाते प्रयासम के बच्चे

तंग गलियों में रहने वाले कोलकाता के उन बच्चों ने अपनी कॉलोनी की पहचान को पुख्ता करने के लिए जो मैप तैयार किया है, उससे नगरपालिका को भले ही शर्म आ रही हो, लेकिन दुनिया भर से मिल रही है वाहवाही!

टास्क कठिन था, लेकिन अब इस काम में यूनिसेफ भी बच्चों की मदद के लिए आ गया था। अब बच्चों के पास साधन थे। गूगल अर्थ मैप से मदद ली गई। धीरे-धीरे एक सही और मुकम्मल नक्शे ने आकार लेना शुरू कर दिया। पहले बच्चे पुराने किस्म के मैपिंग टूल्स का इस्तेमाल करते थे। बाद में बच्चों के इस काम को देखते हुए कोलंबिया यूनिवर्सिटी अर्थ इंस्टीट्यूट के मैट वर्ग बच्चों से मिले और मैपिंग के लिए खास तौर पर तैयार किया हुआ तीन मोबाइल फोन बच्चों को भेंट कर दिया। खास तरह के उस मोबाइल फोन ने बच्चों के काम को बेहद आसान कर दिया। घर-घर जाकर बच्चों ने जीपीएस सिस्टम से लैस उस मोबाइल में घर में रहने वाले लोगों की संख्या, उनकी उम्र, आय के साधन और स्वास्थ्य संबंधी परेशानियों को दर्ज करना शुरू कर दिया। बच्चों की मेहनत रंग लाई। अब उनके पास उनके मोहल्ले का एक खास नक्शा तैयार था, जिसमें वह सब कुछ था, जिससे उस मोहल्ले की एक नई पहचान बनती थी। नक्शा हाथ में आया, तो नगरपालिका को थोड़ी शर्म भी आई। मोहल्ले की सफाई और स्ट्रीट लाइट के रख-रखाव पर ध्यान दिया जाने लगा। नक्शे के बाद पता चला कि ऋषि अरविंदो कॉलोनी में यों तो पानी के कुल 71 स्रोत हैं, लेकिन पीने लायक पानी एक बूंद भी नहीं।

बच्चे अपने उस नक्शे को अब गूगल अर्थ को सौंपने को तैयार हैं। बच्चों को लेकर मोहल्ले के लोगों की राय भी बदल गई है। कॉलोनी के मुहाने पर छोटी सी दुकान चलाने वाला बंकिम घोष पहले सलीम को देखते ही भुनभुनाता था- आस्तो बोका!' अब सलीम को मिलने पर कहता है. 'तुमी जे बोलबे सेई होबे।' और सलीम सचमुच बड़ा हो गया है। कहता है, पूरे कोलकाता का ऐसा ही नक्शा होना चाहिए। लेकिन वाहनों के तेज शोर में भी रवींद्र संगीत सुन लेने का जुगाड़ कर लेने वाले महानगर कोलकाता को शायद फुरसत नहीं कि वह एक बेहद पिछड़े और दब्बू किस्म के मोहल्ले में रहने वाले सलीम और उसके दोस्तों की बातों पर गौर करे।

गरीबी के मानक तय करने में मील के पत्थर...

- भारत में गरीबी के परिमाण के निर्धारण के लिए लम्बा समय बीत गया।
- एक ऐसी गरीबी रेखा की परिभाषा, जो गरीबी की हद के सही आकलन की इजाजत दे, को तय करने की चेष्टा का न्यायपूर्ण ढंग से एक लम्बा इतिहास है।
- वी. एम. दाण्डेकर ने 1996 में इस सम्बंध में चार युक्तियां सुझायीं। ये थीं- जरूरी उपभोक्ता वस्तुओं, खासकर खाद्य पर एक गृहस्थ या गृहिणी के द्वारा किये जाने वाले खर्च का औसत, खाद्य का कैलोरी मान, संतुलित भोजन का मूल्य और आदमी के अस्तित्व के लिए न टाले जा सकने वाली आवश्यक वस्तुओं का मूल्य। ये उपाय अधिक सुसंगत और व्यावहारिक लगते हैं। बहरहाल, इस दिशा में प्रमुख उपायों पर एक नजर :-

जीवन बसर लायक गरीबी रेखा :

- भारत में गरीबी रेखा के निर्धारण के लिए सबसे पहला कदम आजादी के पहले दादाभाई नौरोजी का था।
- इसके तहत खाद्य पदार्थों की 1867-68 की कीमतों के आधार पर गरीबी रेखा तय की गयी।
- इसमें शांत राज्यों में प्रवासी कुलियों को दिये जाने वाले आवश्यक पोषक तत्वों को आधार बनाया गया।
- ये कुली वे गिरमिटिया मजदूर थे जिन्हें समुद्र पार (परदेश में) काम के लिए ले जाया जाता था।
- पोषक तत्वों में चावल या आटा, दाल, मांस, सब्जी, घी, वनस्पति तेल और नमक को मुख्य तौर पर सम्मिलित किया गया था।
- इसका आधार भी उन कामगारों की तब के 16 से 35 रुपये के बीच घटती-बढ़ती सालाना प्रति व्यक्ति आमदनी थी।

जीवन निर्वाह का समुचित मानक :

- राष्ट्रीय योजना समिति (एनपीसी) के सचिव के रूप में के. टी. शाह ने 4 जून, 1939 को एक नोट तैयार किया।
- इस नोट में उन्होंने लिखा कि "...मूल लक्ष्य (योजना का) देश के विभिन्न हिस्सों में रहने वाले लोगों के जीवन-निर्वाह का समुचित मानक सुनिश्चित करना है।
- उन्होंने इसके लिए रुपये के वर्तमान के मूल्य के आधार पर 15 से 20 रुपये प्रति व्यक्ति प्रति माह की आमदनी को आधार बनाया।

योजना आयोग के प्रयत्न :

- 1962 में योजना आयोग ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के एक कार्यकारी समूह की नियुक्ति की जिसने ग्रामीण क्षेत्रों में रुपये 20 प्रतिदिन और शहरी क्षेत्रों में रुपये 25 न्यूनतम प्रतिदिन खर्च स्तर वाले मान के आधार पर गरीबी रेखा के निर्धारण के लिए एक सेट की सिफारिश की गयी।
- इसका आधार 1960-61 की कीमतों को बनाया गया।

पहला सुनियोजित आंकलन :

- 1971 में वी.एम. दाण्डेकर और एन. रथ ने गरीबी के निर्धारण के लिए पहला सुनियोजित आंकलन आधार उपलब्ध कराया।
- इसमें राष्ट्रीय प्रादर्श सर्वेक्षण (एनएसएस) के 1960-61 के आंकड़ों को आधार बनाया गया था, अलबत्ता इसका विश्लेषण अलग तरीके से किया गया।
- इस मानक को खर्च की उस सीमा (कट-ऑफ) पर आधारित किया गया जो रोजाना प्रति व्यक्ति 2,250 कैलोरी की उपलब्धता सुनिश्चित करती हो।

श्रीनिवासन का फार्मूला :

- देश में गरीबी रेखा के निर्धारण के लिए एक ऐतिहासिक आधार उपलब्ध कराते हुए 2007 में टी. एन. श्रीनिवासन ने इस सम्बंध में विभिन्न कोशिशों की पहचान की।
- श्रीनिवासन ने अपने फार्मूले में नौरोजी की इस मान्यता की तरफ ध्यान खींचा कि गरीबी रेखा के निर्धारण में काम के लिए ऊर्जा, उसके न्यूनतम -सुख-साधन, सभी सामाजिक और धार्मिक अपेक्षाओं तथा सुख-दुःख के मौके पर होने वाले सभी खर्चों की जरूरत को सम्मिलित नहीं किया गया है।
- उन्होंने इसकी तुलना 2004-05 के लिए योजना आयोग के द्वारा निर्धारित गरीबी रेखा से करते हुए मुद्रास्फीति के लिए सुधार किया।
- उन्होंने यह निष्कर्ष नहीं रखा कि 2004-05 के लिए तय सरकारी गरीबी रेखा नौरोजी की तय गरीबी रेखा से कहीं अधिक ठीक है।

स्रोत : इंडिया क्रोनिक पॉवर्टी रिपोर्ट

जानिए : कौन है बीपीएल

- भीख मांग कर गुजर करने वाले
- बेघर परिवार
- मैला ढोने वाले परिवार
- आदिम जनजातीय समूह
- छुड़ाए गए बंधुआ मजदूर

बीपीएल में दी जाएगी जिनको प्राथमिकता

- एक कमरे के कच्चे मकान में रहने वाला परिवार
- जिस परिवार में 16-59 वर्ष का कोई वयस्क सदस्य नहीं है
- महिला मुखिया वाले परिवार जिसमें 16-59 का कोई पुरुष नहीं है
- अनुसूचित जाति-जनजाति के परिवार
- दिहाड़ी मजदूर जो भूमिहीन हैं
- सक्षम शरीर वाले वयस्क सदस्य से रहित परिवार जो निःशक्त है

बीपीएल से क्या-क्या जानकारी चाहती है सरकार

- व्यवसाय
- शिक्षा
- निःशक्तता
- धर्म
- अनुसूचित जाति/ जनजाति
- धर्म
- जाति/जनजाति का नाम
- रोजगार
- आय और आय का साधन
- परिसंपत्तियां
- मकान
- टिकाऊ और गैर टिकाऊ उपभोक्ता सामान
- भूमि

ये बीपीएल नहीं माने जाएंगे

- जिन पर दो पहिया या चार पहिया वाहन है या मछली पकड़ने की नाव है
- मशीन चलित तीन या चार पहिए के कृषि उपकरण हैं
- 50 हजार का किसान क्रेडिट कार्ड है
- सरकारी सेवा में हो
- सरकार में पंजीकृत गैर कृषि उद्योग होने पर
- परिवार का कोई सदस्य 10 हजार मासिक कमाता हो
- आयकर देता हो
- व्यवसायिक कर देता हो
- सभी कमरों में पक्की दीवार हो या तीन कमरे हों
- फ्रिज हो
- लैंड लाइन फोन हो
- कम से कम एक सिंचाई उपकरण के साथ ढाई एकड़ सिंचित भूमि हो

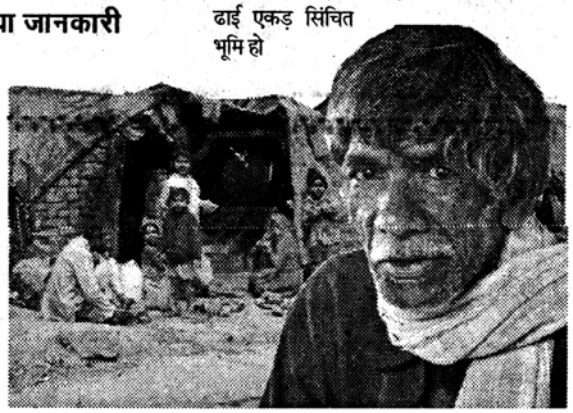

गरीबी हटाओ योजनाएं

रोजगार और स्व-रोजगार

- महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी कानून
- स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजना
- स्वर्ण जयंती शहरी रोजगार योजना
- शहरी स्व-रोजगार कार्यक्रम
- शहरी मजदूर रोजगार कार्यक्रम
- महिला प्रशिक्षण और रोजगार कार्यक्रम सहायता

पोषण और शिक्षा

- लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली
- समेकित बाल विकास सेवा योजना
- दोपहर का भोजन
- सर्वशिक्षा अभियान

स्वास्थ्य और स्वास्थ्य बीमा

- राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य अभियान
- जननी सुरक्षा योजना
- राष्ट्रीय एड्स नियंत्रण कार्यक्रम-तीन
- आम आदमी बीमा योजना
- राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना

आधारभूत संरचना और बुनियादी सेवाएं

- प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना
- इंदिरा आवास योजना
- सम्पूर्ण स्वास्थ्य अभियान
- भारत निर्माण
- जवाहर लाल नेहरू शहरी नवीकरण अभियान
- त्वरित ग्रामीण जल आपूर्ति
- समेकित जल संरक्षण प्रबंधन कार्यक्रम
- पिछड़ा क्षेत्र अनुदान कोष

विशेष समूह के लिए कार्यक्रम

- अनुसूचित जाति उप-योजना और जन जातीय उप-योजना
- समेकित बाल संरक्षण योजना
- राष्ट्रीय बुजुर्ग पेंशन योजना
- किशोरी शक्ति योजना

स्रोत : इण्डिया क्रॉनिक पावर्टी रिपोर्ट

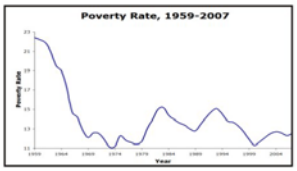

दो टूक
अरविंद प्रसाद
परिदृश्य
edit@amarujala.com

अधूरी तैयारियां

खाद्य सुरक्षा के लिए कानून के साथ इच्छाशक्ति की जरूरत

आखिरकार खाद्य सुरक्षा कानून अब हकीकत बनने जा रहा है। आजादी के बाद का संभवतः यह सबसे महत्वाकांक्षी कानून है, जिसका उद्देश्य देश के लोगों को भोजन उपलब्ध होने की गारंटी प्रदान करना है। इसके दायरे में ग्रामीण इलाके की 75 फीसदी और शहरी इलाके की 50 फीसदी आबादी रखी गई है और मान लिया गया है कि जिनको दायरे में नहीं रखा गया है, वे अपनी खाद्य सुरक्षा करने में खुद समर्थ हैं।

यह कानून जितना महत्वाकांक्षी है, इसे लेकर व्यक्त किए जा रहे संशय उतने ही ज्यादा बड़े हैं। देश की खाद्य सुरक्षा के लिए संघर्ष कर रहे लोग एक तरफ अपनी नाराजगी जाहिर कर रहे हैं कि इसके दायरे में देश की पूरी आबादी को क्यों नहीं लाया गया, वहीं दूसरी तरफ ऐसे लोगों की तादाद काफी है, जो मानते हैं कि यह एक ऐसा कानून है, जिसका पालन संभव ही नहीं है।

खाद्य सुरक्षा का मतलब है, खाद्य उत्पादन में वृद्धि, उत्पादकों यानी किसानों से अनाज की खरीद का पुख्ता इंतजाम, अनाज के भंडारण की व्यवस्था और उसके वितरण का उचित प्रबंध। इसमें अनाज के उत्पादकों को उनकी उपज का सही मूल्य उपलब्ध कराना और उपभोक्ताओं को सही दर पर अनाज उपलब्ध कराने की इच्छाशक्ति और सामर्थ्य भी शामिल है।

सवाल उठता है कि क्या इस तरह की तैयारियां पूरी कर ली गई हैं? जवाब है- नहीं। अपने देश में दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी आबादी निवास करती है और संभव है कि अगले एक-दो दशकों में ही हम दुनिया की सबसे बड़ी आबादी वाला देश बन जाएं। हम दावा करते हैं कि हमने अनाज उत्पादन में आत्म निर्भरता प्राप्त कर ली है। मगर तथ्य यह भी है कि गरीबी के कारण हमारे देश की आबादी के एक बड़े हिस्से को भरपेट भोजन भी नहीं मिल पाता। उनकी क्रयशक्ति कम है। इस कारण देश में अनाज की जितनी खपत होनी चाहिए, उतनी हो नहीं पाती है और देश की आबादी का एक बड़ा हिस्सा कुपोषण का शिकार रहता है। इस असंतुलन को दूर करने के लिए खाद्य उत्पादन में भारी वृद्धि करनी होगी।

> **आबादी के अनुपात में अनाज उत्पादन भी बढ़ाना होगा और भंडारण का इंतजाम भी करना होगा।**

इस समय सिर्फ हरियाणा, पंजाब, आंध्र प्रदेश, उड़ीसा और छत्तीसगढ़ में ही, वहां की स्थानीय जरूरत से ज्यादा अनाज का उत्पादन हो पाता है। इन राज्यों के सरप्लस से अन्य राज्यों के अनाज घाटे को पूरा किया जाता है। जाहिर है, यदि अनाज का उत्पादन बढ़ाना हो, तो पश्चिम बंगाल, बिहार, झारखंड और मध्य प्रदेश में अनाज का उत्पादन बढ़ाना पड़ेगा। इन राज्यों की जमीन उपजाऊ है, लेकिन सिंचाई की व्यवस्था की कमी और बाढ़ के कारण अनाज उत्पादकता काफी कम है। पानी की बहुलता वाले ये प्रदेश, जो परंपरा से पिछली कई सदियों से भारतीय उपमहाद्वीप के सबसे समृद्ध इलाके हुआ करते थे, आज सबसे गरीब इलाके में तबदील हो गए हैं। यहां की भूमि और जल प्रबंधन और उसे ज्यादा अनाज उत्पादन के अनुकूल बनाने के लिए अरबों-अरब रुपये के निवेश की जरूरत है। पर वहां निवेश की इच्छाशक्ति हमारे नीति निर्माताओं में दिखाई नहीं देती।

खाद्य सुरक्षा की किसी व्यवस्था में किसानों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उनका ध्यान रखने के लिए अनाजों के समर्थन मूल्य की व्यवस्था कायम की गई है, पर यह व्यवस्था सही तरीके से काम नहीं कर पा रही है। जब फसल कटती है, तो किसानों को समर्थन मूल्य से बहुत कम कीमत पर अपना अनाज बाजार में बेचना पड़ता है और इस तरह उन्हें मिल रहा समर्थन उन बिचौलियों के काम आ जाता है, जो कम कीमत पर अनाज खरीदकर समर्थन मूल्य पर सरकार को बेच डालते हैं। प्रस्तावित खाद्य सुरक्षा कानून को लेकर किसान आज आशंकित हैं, तो इसका कारण यही है कि उन्हें लगता है कि उपभोक्ताओं को कम कीमत पर अनाज उपलब्ध करने के नाम पर उनके उत्पादों के समर्थन मूल्य को भी सरकार कम रखेगी और वे शायद लागत भी नहीं निकाल पाएंगे। किसानों का यह डर काल्पनिक नहीं है। जाहिर है, इस भय के माहौल में, न तो अनाज का उत्पादन बढ़ाया जा सकता है और न लोगों की खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित की जा सकती है।

अनाजों की खरीद के साथ-साथ उसके भंडारण की समस्या भी देश में बनी हुई है। गोदाम नहीं मिल पाने के कारण अनाज सड़ जाते हैं, या सड़कों पर पड़े रहते हैं। भारतीय खाद्य निगम के केंद्रीय वेयर हाउस कॉर्पोरेशन के पास उतने गोदाम नहीं हैं, जो खाद्य सुरक्षा कानून को सफल बनाने के लिए पर्याप्त अनाज का भंडारण कर सकें।

इस कानून के तहत जिन्हें सुरक्षा देनी है, उनकी पहचान का मामला भी बहुत महत्वपूर्ण है। सरकार ने पहले बीपीएल कार्ड बनवा रखा था। वह कार्ड अब भी है, पर उसमें भारी कमियां हैं, और उन्हें दूर करने के लिए एक बीपीएल सर्वे, जिसे सामाजिक आर्थिक जनगणना भी कहा जाता है, चल रहा है। बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार खाद्य सुरक्षा आयोग द्वारा बीपीएल सूची तैयार करने की मांग कर रहे हैं, तो तमिलनाडु की मुखिया जयललिता उस गणना के मानकों से सहमत नहीं हैं और वह अपने राज्य को खाद्य सुरक्षा कानून के दायरे से बाहर रखने की मांग कर रही हैं। इस योजना पर अमल करने में मुख्य भूमिका राज्य सरकारों की ही होगी और उनके द्वारा की जा रही यह आपत्ति शुभ लक्षण नहीं है।

इसके अलावा इसे सफल बनाने के लिए भारी पैमाने पर सबसिडी चाहिए। क्या केंद्र सरकार सबसिडी के उस बोझ को उठाने के लिए तैयार है? डर है कि इसका हश्र शिक्षा के अधिकार कानून जैसा न हो।

दो टूक
रीतिका खेड़ा
परिदृश्य
edit@amarujala.com

घेरे से बाहर

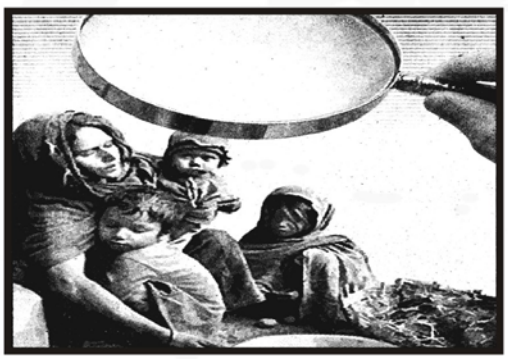

खाद्य सुरक्षा कानून मे 'प्राथमिकता' बीपीएल का ही दूसरा नाम है!

लंबी जद्दोजहद के बाद लोकसभा में खाद्य सुरक्षा विधेयक पेश किया गया। यूपीए सरकार की इस महत्वाकांक्षी योजना का जो मसौदा कैबिनेट ने पास किया है, वह कई सवालों को जन्म देता है। कहा जा रहा है कि 75 फीसदी ग्रामीण आबादी को इससे लाभ मिलेगा। मगर यह साफ नहीं किया जा रहा कि वास्तव में सबसिडी को 'प्राथमिकता' वाले परिवारों तक सीमित किया जा रहा है।

मसौदे के अनुसार, सिर्फ प्राथमिकता प्राप्त परिवार ही सस्ते अनाज के हकदार होंगे (यानी, तीन रुपये प्रति किलो चावल, दो रुपये प्रति किलो गेहूं या एक रुपये प्रति किलो मोटा अनाज)। ग्रामीण क्षेत्रों में 46 फीसदी परिवार ही 'प्राथमिक' होंगे। 75 प्रतिशत नहीं। बाकी के 29 फीसदी परिवार 'सामान्य' सूची में रखे जाएंगे और 25 फीसदी कानून के दायरे से बाहर होंगे। सामान्य परिवारों को तीन किलो प्रति व्यक्ति अनाज मिलेगा। इसकी दर न्यूनतम समर्थन मूल्य से आधे दाम पर, कमोबेश बाजार मूल्य के बराबर होगी।

शहरी क्षेत्रों में भी पचास फीसदी आबादी इसके दायरे से बाहर रहेगी, जबकि 28 प्रतिशत प्राथमिकता सूची में शामिल होंगी और शेष 22 फीसदी लोग सामान्य परिवारों में गिने जाएंगे, जो सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पीडीएस) से बाहर होंगे। गौर किया जाए कि ग्रामीण (46 फीसदी) और शहरी (28 फीसदी) क्षेत्रों के प्राथमिकता सूची का आंकड़ा तेंदुलकर कमेटी द्वारा तय गरीबों की संख्या के आसपास पहुंचता है। यानी, इस कानून में बीपीएल परिवारों को नया नाम दिया गया है - प्राथमिक परिवार। और एपीएल अब सामान्य कहलाएंगे।

ऐसा लगता है कि सरकार, और मीडिया भी, यह भूल गए हैं कि विगत अक्तूबर में ही सुप्रीम कोर्ट में दाखिल योजना आयोग के हलफनामे ने गरीबी रेखा के औचित्य को लेकर तीखी बहस छेड़ दी थी। इसमें आयोग ने शहरी क्षेत्रों में 32 रुपये और ग्रामीण क्षेत्रों में 26 रुपये रोजाना खर्च को 'गरीबी रेखा' बताया था। इस विवादित हलफनामे में कहा गया था कि यह गरीबी रेखा 'भोजन, शिक्षा और स्वास्थ्य' की जरूरतों के वास्तविक खर्च की उपयुक्तता सुनिश्चित करती है।

> **सरकारी गोदामों में क्षमता से अधिक रखे गए खाद्यान्न का इस्तेमाल पीडीएस में क्यों नहीं किया जा सकता?**

गरीबी की इस परिभाषा को लेकर जारी बहस तब थमी, जब योजना आयोग के उपाध्यक्ष और ग्रामीण विकास मंत्री ने संयुक्त बयान जारी किया। वह बयान यह साफ नहीं कर पाया कि योजना आयोग द्वारा तय गरीबी रेखा वंचितों के लिए चल रही कल्याणकारी योजनाओं के लिए प्रासंगिक है, और उसकी सीमा क्या है। सरकार ने यह तो स्पष्ट किया कि वह क्या नहीं करेगी, मगर वह क्या करने वाली है, यह तब रहस्य रहा।

वह संयुक्त बयान भले ही मीडिया में चल रही बहस को शांत करने में सफल रहा, पर योजना आयोग के इस हस्तक्षेप को वास्तविकता से टालमटोल करने, दोतरफा बातें बोलने और पलायन करने के रूप में देखा जाना चाहिए। मसलन, योजना आयोग के उपाध्यक्ष ने कहा कि मध्याह्न भोजन योजना, समन्वित बाल विकास सेवा (आईसीडीएस), मनरेगा जैसी कल्याणकारी योजनाएं गरीबी रेखा से नीचे के परिवारों तक सीमित नहीं हैं। उन्होंने बड़ी सरलता से उन लक्षित योजनाओं के नाम नहीं लिए, जो गरीबी रेखा के निर्धारण से प्रभावित होती हैं। जैसे पीडीएस, राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना, विधवा और वृद्धावस्था पेंशन और कुछ हद तक इंदिरा आवास योजना।

विगत मई में 40 अर्थशास्त्रियों ने राष्ट्रीय सलाहकार परिषद की अध्यक्ष सोनिया गांधी को पत्र लिखकर गुजारिश की थी कि खाद्य सुरक्षा कानून को तकरीबन सार्वभौमिक बनाया जाए। पिछले दिनों ही सर्वोच्च न्यायालय ने 'भोजन का अधिकार' मामले के दौरान बढ़ते खाद्य भंडारण और उसके रख-रखाव में आ रही परेशानियों को लेकर केंद्र सरकार से सवाल किया था। याचिकाकर्ताओं ने मांग की थी कि गोदामों में क्षमता से अधिक रखे गए खाद्यान्न का इस्तेमाल पीडीएस में किया जाए, ताकि अधिक से अधिक गरीब परिवारों को लाभ मिले। जैसे, अत्यधिक गरीब दो सौ जिलों में सभी को जनवितरण प्रणाली का लाभ दे दिया जाए। यह महसूस किया गया कि पलामू, कालाहांडी, सरगुजा जैसे अत्यधिक गरीब जिलों में, जहां 80 प्रतिशत आबादी गरीबी रेखा के नीचे है, गरीबी जनगणना औचित्यहीन होगी, लिहाजा एक अंतरिम मानक बनाकर सभी को यह दे दिया जाए।

गरीबी जनगणना से गरीबों को बाहर रखने के सुबूत और सार्वभौमिक स्तर पर अनाज वितरण को लागू करने की व्यापक सहमति के बावजूद जन वितरण व्यवस्था का लाभ सभी को देने में सरकार क्यों असहमत है, यह समझना मुश्किल है। खाद्य सुरक्षा कानून लागू करने में होने वाले खर्च पर आवाज उठाने वाले यह भूल जाते हैं कि सरकार के पास अनाज का हद से ज्यादा भंडार है। सरकार दो वजहों से अनाज खरीदती है- पहला जन वितरण व्यवस्था के लिए और दूसरा, खुले बाजार में बेचकर खाद्यान्न की कीमत नियंत्रित करने के लिए। बढ़ती महंगाई के दौर में सरकार जन वितरण व्यवस्था का विस्तार कर अथवा बाजार में खाद्यान्न की आपूर्ति बढ़ाकर, गरीबों को राहत दे सकती है।

पीडीएस के संदर्भ में यह भी एक सच है कि तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़, उड़ीसा और राजस्थान जैसी कई राज्य सरकारों ने इसका दायरा योजना आयोग की गरीबी रेखा से प्राप्त गरीबी दर से बढ़ाया है। लिहाजा सरकार और स्थायी समिति जब भी खाद्य सुरक्षा कानून पर बहस करें, तो इन पहलुओं का अवश्य ध्यान रखें।

दो टूक

ज्यां द्रेज

अर्थनीति

edit@amarujala.com

अपने-अपने गरीब

यही कारण है कि गोदामों में अनाज भरे हैं और गरीब भूखे मर रहे हैं

झारखंड के लातेहार जिले के डबलू सिंह के परिवार की दुर्दशा वर्तमान खाद्य नीतियों की विसंगतियों को जितनी मार्मिकता से उजागर करती है, उतनी शायद कोई और बात नहीं करती। दिहाड़ी मजदूरी पर निर्भर आदिवासी युवक डबलू तकरीबन दो साल पहले काम करते वक्त छत से गिर पड़ा और उसकी रीढ़ की हड्डी टूट गई। उसका परिवार भुखमरी के कगार पर खड़ा है। झारखंड में गरीबी रेखा (बीपीएल) से नीचे के परिवारों को प्रति माह एक रुपया की दर से 35 किलो अनाज हासिल करने का हक है। लेकिन डबलू सिंह के परिवार के पास बीपीएल कार्ड नहीं है।

बहरहाल, भारतीय खाद्य निगम के गोदाम एक बार फिर ठसाठस भरे हुए हैं। लेकिन डबलू सरीखे परिवारों की कमी नहीं। नेशनल सैंपल सर्वे के अनुसार, ग्रामीण भारत के कुल गरीब परिवारों में से तकरीबन आधे के पास बीपीएल कार्ड नहीं है, तो क्यों न इन परिवारों को भी बीपीएल कार्ड देकर उनमें अनाज बांट दिया जाए? डबलू सिंह की एकमात्र आशा यही है कि उसका दुख नजर में आ गया है। दुर्घटना के तुरत बाद सबसे पहले उस पर स्थानीय पत्रकार की नजर गई फिर जिला कलेक्टर और बाद में स्थानीय विधायक तथा बाकियों की। सबने माना कि फौरी राहत के तौर पर उसे बीपीएल कार्ड मिलना चाहिए।

लेकिन प्रशासनिक दांव-पेच के कारण जब उसे बीपीएल कार्ड नहीं मिला, तो डबलू के शुभचिंतकों ने यह मामला रांची से लेकर दिल्ली तक उठाया। जब सुप्रीम कोर्ट के कमिश्नरों ने कमान संभाली और जिला कलेक्टर को तलब किया, तब जाकर उसने माना कि जिला प्रशासन डबलू को बीपीएल कार्ड देने में लाचार है, क्योंकि इसके लिए किसी का नाम बीपीएल सूची से बाहर करना पड़ेगा। गौरतलब है कि जिले का बीपीएल कोटा निर्धारित है, इसलिए जिले की बीपीएल सूची से किसी का नाम हटाए बगैर उसमें नया नाम जोड़ा नहीं जा सकता।

लातेहार से दिल्ली तक फैली डबलू के शुभचिंतकों की एक पूरी टोली के एक साल से ज्यादा की कोशिशों के बावजूद कुछ हफ्ते पहले तक मामला यहीं तक पहुंचा था। खैर, स्थानीय प्रखंड आपूर्ति अधिकारी ने जुगत लगाई और बलि का बकरा ढूंढ निकाला। डबलू के गांव में किसी की मौत हो गई थी, उसकी पत्नी भी चल बसी थी और उसके बेटे को अलग से एक बीपीएल कार्ड था, इसलिए मृतक का नाम सूची से हटाकर उसमें डबलू का नाम जोड़ना ठीक जान पड़ा। इसमें 10-15 दिन लगे और डबलू को बीपीएल कार्ड मिल गया।

तमिलनाडु में जिस गरीब को रियायती दर पर अनाज मिलता है, वह झारखंड में इस सुबिधा से वंचित क्यों है?

लेकिन एक पेच और है : हो सकता है, डबलू जल्दी ही अपने बीपीएल कार्ड से वंचित हो जाए, क्योंकि मौजूदा 'बीपीएल जनगणना' पूरी होने के बाद बीपीएल सूची फिर से बनाई जानी है। और, इस जनगणना की पद्धति ऐसी है कि इसमें गरीब में गिने जाने के लिए निर्धारित सात 'कसौटियों' में से डबलू का परिवार बस एक पर खरा उतरता है। बीपीएल में डबलू के शामिल होने को तनिक और कठिन बनाने के लिए योजना आयोग ने साफ कर दिया है कि ग्रामीण इलाके में 26 रुपये प्रति व्यक्ति प्रतिदिन को गरीबों के आकलन में मानक मनाने वाली आधिकारिक गरीबी रेखा के हिसाब से बीपीएल की सूची आगे चलकर छोटी होने वाली है। डबलू को तो रोजाना कम से कम 25 रुपये अपने जरूरी डॉक्टरी देखभाल के लिए ही चाहिए।

कई राज्यों ने योजना आयोग की इस गरीबी रेखा के प्रति विद्रोह किया है और सार्वजनिक वितरण प्रणाली को बीपीएल सूची से ज्यादा बड़ा विस्तार दिया है। यदि डबलू तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश या छत्तीसगढ़ में रह रहा होता, तो उसे इस अग्निपरीक्षा से नहीं गुजरना पड़ता। तमिलनाडु में पीडीएस सार्वजनिक है, वहां हरेक के पास राशन कार्ड है। आंध्र प्रदेश में सरकारी नौकरी करने वाले को छोड़कर सबको राशन कार्ड के योग्य माना गया है। छत्तीसगढ़ में 'समावेशी पद्धति' का इस्तेमाल होता है, लेकिन समावेश की कसौटी व्यापक है। जैसे वहां अनुसूचित जाति-जनजाति के सभी परिवारों को राशन कार्ड के योग्य माना गया है और पीडीएस के दायरे में लगभग 80 फीसदी ग्रामीण आबादी शामिल है। फिर, राशन कार्ड की तालिका का नियमित अंतराल पर सत्यापन होता है।

लातेहार जैसे ग्रामीण इलाका म सार्वभौमिक (यूनिवर्सल) पीडीएस की बड़ी जरूरत है। दरअसल ठेकेदारों और महाजनों को छोड़कर वहां कोई धनी आदमी नहीं है। अपने बच्चे का दाखिला तनिक बेहतर स्कूलों में करवाना हो, तब भी इलाके के ज्यादातर धनी लोग शहर चले जाते हैं। गांवों में लगभग सारे लोग या तो गरीब हैं या फिर गरीबी के कगार पर। फिर, स्थानीय प्रशासन इतना अकर्मण्य, भ्रष्ट और शोषक है कि न तो कोई विश्वसनीय बीपीएल सर्वेक्षण करा सकता है और न ही गरीबों को चिह्नित करने संबंधी कोई और काम।

प्रस्तावित राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून, गरीबी रेखा से जुड़े इस दुःस्वप्न को समाप्त करने और इस बात को सुनिश्चित करने का एक अवसर है कि डबलू सरीखे परिवारों को खाद्य सबसिडी बतौर हक मिले। दुर्भाग्य से राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून के आधिकारिक मसौदे में बीपीएल वाली मानसिकता को ही नए कलेवर में पेश किया गया है। इस बीच सरकार ने खाद्य संकट के समाधान के नाम पर निजी व्यापारियों को बीपीएल से भी कम दाम पर अनाज बेचना शुरू कर दिया है।

- लेखक जाने-माने सामाजिक कार्यकर्ता और अर्थशास्त्री हैं।

पसंदीदा दुकान से अब राशन लें या कैश

सरकार ने नीलेकणि के फॉर्मूले को दी सैद्धांतिक मंजूरी

अमर उजाला ब्यूरो

पीडीएस में सुधार को टास्क फोर्स ने आईटी के इस्तेमाल का भी दिया सुझाव

नई दिल्ली। सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पीडीएस) के उपभोक्ताओं को जल्द ही एक नई सुविधा मिलने वाली है। वे या तो रियायती राशन को अपनी पसंदीदा दुकान से खरीद सकेंगे या फिर इसके बदले नकद ले सकेंगे। पीडीएस में सुधार का यह फॉर्मूला नंदन नीलेकणि की अगुवाई वाले टास्क फोर्स ने सरकार को सुझाया है। सरकार ने सैद्धांतिक तौर पर इन सुझावों को मंजूरी भी दे दी है।

गड़बड़ी रोकने के लिए टास्क फोर्स ने सूचना प्रौद्योगिकी (आईटी) और आधार कार्ड आधारित बैंक खातों के इस्तेमाल का भी फॉर्मूला सुझाया है। ये सुझाव टास्क फोर्स की ओर से तैयार 'आईटी स्ट्रेटजी फॉर द पीडीएस' को लेकर तैयार रिपोर्ट का एक हिस्सा है। यह रिपोर्ट बुधवार को वित्त मंत्री प्रणब मुखर्जी के समक्ष पेश कर दी गई। प्रणब को रिपोर्ट सौंपने के बाद यूआईडीएआई के चेयरमैन नंदन नीलेकणि ने कहा कि सरकार ने सैद्धांतिक तौर पर इस रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया है। अब इस पर समुचित कदम उठाने की तैयारी चल रही है। पीडीएस नेटवर्क में सुधार के लिए दो चरणों वाली रणनीति का सुझाव देते हुए टास्क फोर्स ने कहा है कि यह लाभार्थियों की इच्छा पर निर्भर करेगा कि वे या तो वे राशन खरीद के लिए अपनी पसंदीदा जगह, राशन की मात्रा और मिश्रण के बारे में बता सकते हैं या फिर वे राशन के मूल्य पर मिलने वाली सब्सिडी की रकम नकद ले सकते हैं। मौजूदा समय में पीडीएस उपभोक्ता केवल तयशुदा दुकान से तयशुदा मात्रा में ही राशन ले सकता है। देशभर में 4.62 लाख उचित मूल्य दुकानें हैं जिनके जरिए करीब 18 करोड़ परिवारों को 30 हजार करोड़ से ज्यादा कीमत के गेहूं, चावल, चीनी का वितरण किया जाता है।

मां होगी परिवार की मुखिया

राशन कार्ड में नाम ऊपर होगा, पैसा भी महिलाओं के नाम पर ही जारी होगा

पंकज कुमार पांडेय | नई दिल्ली

पितृ प्रधान समाज की धारणा धीरे-धीरे बदल रही है। 'मेरे पास मां है' का गर्वीला फिल्मी संवाद अब यूपीए सरकार के एक महत्वपूर्ण कदम से घर-घर की कहानी बन सकता है। केंद्र सरकार ने तय किया है कि अब खाद्य सुरक्षा का लाभ देने के लिए बनने वाले राशन कार्ड में अनिवार्य रूप से पहला नाम 'मां' का होगा। मां के बाद ही परिवार के अन्य सदस्यों के नाम दर्ज किए जाएंगे। केंद्रीय खाद्य वितरण व नागरिक आपूर्ति मामलों के मंत्री केवी थॉमस ने भास्कर से खास बातचीत में इसकी पुष्टि की।

उन्होंने कहा कि राशन कार्ड में अब किसी पुरुष का नाम पहले नहीं होगा। परिवार की मुखिया के तौर पर मां का नाम राशन कार्ड पर पहले दर्ज होगा। इसके अलावा खाद्य सुरक्षा कानून के तहत अगर किसी परिवार को कोई धनराशि दी जाएगी तो वह भी महिला के नाम से ही भेजी जाएगी। कांग्रेस अध्यक्ष सोनिया गांधी के प्रयास से केंद्र सरकार ने खाद्य सुरक्षा कानून में महिलाओं से जुड़े सभी पहलुओं को खास तवज्जो दी है। एक अन्य अहम फैसले के तहत बच्चे को जन्म देने वाली मां को जन्म देने से लेकर छह माह की अवधि तक एक हजार रुपए प्रतिमाह दिए जाएंगे। कानून का अंतिम ड्राफ्ट मंत्रालयों की राय आने के बाद कैबिनेट में लाया जाएगा। थॉमस ने कहा कि सरकार इस विधेयक को शीतकालीन सत्र में लाना चाहती है, इसी दिशा में काम हो रहा है।

सोनिया के दखल से माने मंत्रालय

थामस ने बताया कि दूध पिलाने वाली मां को खाद्य सुरक्षा के दायरे में लाने पर कुछ मंत्रालयों और राज्यों ने सवाल उठाए थे। पर कांग्रेस अध्यक्ष सोनिया गांधी के दखल से यह मामला सुलझ गया है। दरअसल एक नवजात के लिए आहार उसकी मां के दूध से ही मिलता है। ऐसे में खाद्य सुरक्षा के दायरे में दूध पिलाने वाली मां को लाना तार्किक है। कांग्रेस सूत्र मान रहे हैं कि अगर सरकार विधेयक शीतकालीन सत्र में लाती है तो इसका फायदा उसे पांच राज्यों के आसन्न विधानसभा चुनाव में भी मिल सकता है।

कानून तो मजबूत करिए सरकार

2012 में ऐसे प्रावधान लाए जाएं जिनमें बच्चों, स्त्रियों तथा वृद्धों की सुरक्षा और खुशहाली बढ़े। उन्हें उनेक अधिकार बिना ज्यादा मेहनत और मुकदमेबाजी किए मिले। भ्रष्टाचार से लड़ने के लिए मुहिम की जरूरत है पर घर-परिवार, पास-पड़ोस, सड़कों, स्कूलों और अस्पतालों में कमजोर लोगों को ज्यादा सुरक्षा एवं सद्भाव मिले; ऐसा सामाजिक ताना-बाना बुनने और सामाजिक बदलाव लाने की बहुत ज्यादा जरूरत है

■ कमलेश जैन
प्रसिद्ध अधिवक्ता

कानून के क्षेत्र में सन् 2012 का एजेंडा क्या हो? इतने सारे कानून बन गए हैं कि खुद अधिवक्ता या न्यायाधीश भी याद नहीं रख पाते कि इनकी संख्या कितनी है और उनमें क्या लिखा है। फिर भी सामाजिक रूप से पिछड़े और गरीब समाज को और भी कई कानूनों की जरूरत शिद्दत से महसूस होती है।

ऑनर किलिंग या रिश्तों की मौत की बात ही लीजिए। रोज कहीं न कहीं प्यार करने वालों को मौत के घाट उतारा जाता है। अपने ही रिश्तेदारों द्वारा पर किए जा रहे इस कृत्य पर रोक लगाने के लिए कानून बनना मुश्किल है। सरकार अपने वोट बैंक की चिंता ज्यादा करती है, अपने नौजवानों की कम। विवाह अधिनियम संशोधन बिल-2010-2011 में भी संसद में पेश नहीं हुआ। विवाह रजिस्ट्रेशन तक तलाक की प्रक्रिया इतनी कठिन क्यों है? इसे सरलीकृत करने के लिए ही यह बिल है। इसे जल्द पास होना चाहिए।

स्त्री के विरुद्ध अपराधों पर सशक्त कानून नहीं

भारत में हर वर्ष लाखों बच्चियों को कोख में मार दिया जाता है। इसे रोकने के लिए प्री-कन्सेप्शन एंड प्री नेटल डायग्नोस्टिक टेक्नीक्स (प्रोहिबिशन ऑफ सेक्स सलेक्शन) एक्ट संशोधित-2003 हैं। इस कानून में गर्भस्थ बालिका का गर्भपात कराने की अधिकतम सजा मात्र 3 वर्ष जबकि भारतीय दंड संहिता में अधिक महीनों के गर्भ को गर्भपात करवाने की सजा 7 वर्ष है या जीवित बच्चा होने से रोकने या ऐसा कुछ करने कि जिससे जन्म लेते ही बच्चा मर जाए की सजा 10 वर्ष है।

आश्चर्यजनक है कि हमारे यहां जिस विषय पर विशेष कानून बनते हैं (बच्चों और महिलाओं के लिए) तो वहां भारतीय दंड संहिता से कम सजा का प्रावधान होता है। विशेष कानून का अर्थ तो बुनियाद कानून से ज्यादा कड़ा होना चाहिए पर हमारे यहां उल्टी गंगा बह रही है। भादंसं की धारा 354 जिसमें किसी लड़की से छेड़छाड़ की सजा मात्र दो वर्ष है (रुचिका राठौड़ मामला) को बढ़ाकर 5 वर्ष (आंध्र प्रदेश संशोधन 1991) की तरह या मध्य प्रदेश संशोधन-2004 की तरह 10 वर्ष तथा अमानवीय बनाया जाय। बलात्कार से कुछ ही कम होने पर इस धारा का लाभ ले अपराधी जमानत लेकर अंत में रिहा या 2-3 महीने की सजा ही पाता है। लड़कियों में से कई रुचिका की तरह आत्महत्या भी करने पर मजबूर होती हैं।

बलात्कार के मामलों में छानबीन (इन्वेस्टिगेशन) करने के लिए आपराधिक प्रक्रिया संहिता में दिसम्बर 2009 में काफी बदलाव किए गए जिससे पीड़िता के घटना के बाद के संकट कम हो सकें। जैसे पीड़िता का बयान उसके घर पर, उसकी चुनी हुई जगह पर, उसके अपने लोगों के सामने होगा। गवाहों के बयान की ऑडियो वीडियो रिकार्डिंग होगी, जिससे वे अपने बयान न बदल पाएं। पीड़िता की डॉक्टरी जांच 24 घंटों के अंदर होगी। रिपोर्ट में विस्तार से सारी बातें लिखी जाएंगी। सुनवाई में अभियुक्त पक्ष समय नहीं ले पाएगा या सुनवाई दो महीनें में समाप्त होगी। खासकर बच्चों के मामलों में। पर मीडिया खुद ही देखे कि क्या इस संशोधन पर अमल में लाया जा रहा है? ऐसा नहीं हो रहा। कारण इन्फ्रास्ट्रक्चर ही नहीं है। यही हाल घरेलू हिंसा कानून का है। कानूनन फैसला दो महीनों में होना चाहिए पर दो साल से कम नहीं लगते।

बेटियों को जायदाद में बराबरी का अधिकार तो दे दिया गया है। पर आज जो सामाजिक परिवेश है, उसमें एक बेटी को मांगने पर ही उसका हिस्सा निकल सकता है, वह भी अदालतों के हस्तक्षेप पर। एक बार अगर वह यह कदम उठा लेती है तो उसके सारे रिश्ते मायके से या पिता-भाई से खत्म हो जाते हैं। कभी-कभी उसका खून भी हो जाता है तो ऐसे में कानून में बदलाव यह हो कि प्रशासन उसे खुद उसका हिस्सा दिलवाने में मदद करे। जैसे कि घरेलू हिंसा कानून में सेवा प्रदाता या सुरक्षा अधिकारी उसे कानूनी मदद देते हैं।

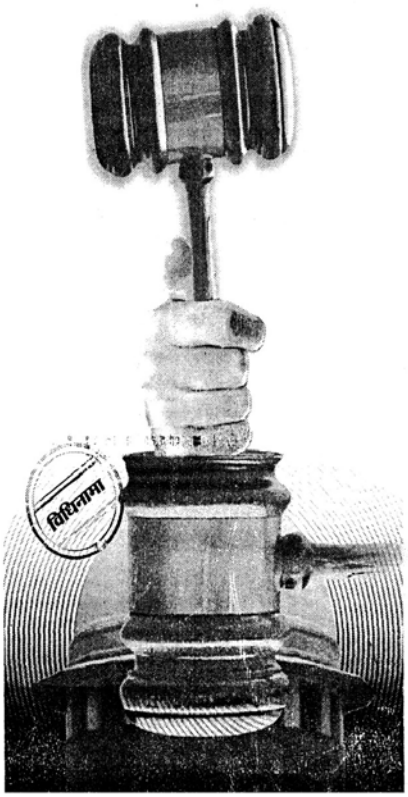

अस्पताल, सिनेमा हॉल और मॉल्स न बनें कब्रगाह

जेल में पुलिस कस्टडी में होने वाली मौतों की तरह ही अब अस्पताल तथा सिनेमा हॉल भी कस्टोडियल मौतों की कब्रगाह बनते जा रहे हैं। देश के तमाम अस्पतालों में बेसमेंट ज्वलनशील पदार्थों यथा ऑक्सीजन गैस सिलेंडर आदि रखने के लिए इस्तेमाल किए जाते हैं। एक्सपायरी डेट वाली या नकली दवाएं आराम से बेची खरीदी जा रही हैं पर सख्त कानून की कमी है। सिनेमा हॉल हो मॉल; कहीं भी सुरक्षा कानून लचर है। उपहार सिनेमा कांड इसका जीता-जागता उदाहरण है। सर्वोच्च न्यायालय ने जिस तरह एमसीडी तथा लाईसेंस देने वालों को किसी भी प्रकार की लापरवाही से मुक्त कर उपहार के मालिकों की जुर्माना की राशि कम कर पीड़ितों का मुआवजा कम कर दिया है; वह भविष्य में आने वाले खतरों को दिखा रहा है। लोग आस लगाए बैठे हैं कि इन विषयों पर सख्त और सही कानून बने ताकि अस्पताल जाने वाले स्वस्थ्य होकर लौटे तथा सिनेमा देखने मॉल जाने वाले खुशी-खुशी घर आए।

बच्चों की हिफाजत में चाहिए मजबूत कानून

एक अहम बिल-द प्रोटेक्शन ऑफ चाइल्ड फ्रॉम सेक्सुअल अफेंस बिल-2011 जो इस बार संसद में पेश होना था। वह जल्द से जल्द बनें। बच्चे चुराने वाले, बेचने खरीदने वाले या उन पर शारीरिक-मानसिक अत्याचार करने वालों पर सख्त कानून बने- उनकी सजा उदाहरणीय हो। हर शहर में गिरोह चलाने वाले उन्हें अपाहिज कर भीख मंगवाते हैं। मामले पकड़ में आते हैं पर उसका नतीजा किसी को नहीं मालूम। ऐसा कोई मुकदमा सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय में नहीं आता। सब कुछ निचले स्तर पर रफा-दफा हो जाता है। वैसे भी बच्चों से भीख मंगवाने की अधिकतम सजा कुल 3 वर्ष है। यही सजा उन्हें शराब तथा नशे का आदी बनाने की भी है। बच्चों को मारने, अकेला बाहर छोड़ने, उनके साथ क्रूरता करने, मारने-पीटने की अधिकतम सजा मात्र छः महीने हैं। क्या यह ठीक है?

राइट ऑफ चिल्ड्रेन टू फ्री एंड कम्पलसरी एजुकेशन संशोधन बिल पास होने पर अक्षम बच्चों को मुफ्त शिक्षा मिलेगी। स्कूल में एडमिशन के वक्त शिक्षा माफिया के रिस्ट्रिक्शन्स खत्म होने चाहिए। जैसे जन्म लेते वक्त सभी बच्चे समान हैं, वैसे ही स्कूल में एडमिशन लेते वक्त वे समान हैं। यही ध्यान में रखकर कानून बनाया जाना चाहिए ताकि प्राईवेट स्कूल शिक्षा देने वाले की जगह रुपया कमाने वाले केंद्र के रूप में न रहें। वहां सुरक्षा की निहायत कमी है। रैगिंग जारी है।

विधि से पुष्ट बने माता-पिताओं की देखभाल

आए दिन हम अपने आस-पड़ोस में देखते हैं कि मथुरा, वृन्दावन, हरिद्वार, ऋषिकेश भरे पड़े हैं- ऐसे वृद्धों से जो अपनी संतान द्वारा बाहर निकाल दिए गए हैं। उनके लिए मेन्टेनेन्स एंड वेलफेयर ऑफ पेरेन्ट्स एंड सीनियर सिटिजन्स एक्ट-2007 बना है। पर इसका फायदा कितने लोग ले पाते हैं? इस एक्ट में प्रावधान है कोई भी उनकी तरफ से अदालत का ध्यान आकर्षित कर सकता है। अदालत के आदेश की अवहेलना करने पर अधिकतम सजा तीन महीने है। यानी 2-4 दिनों की सजा भी दी जा सकती है।

मेरी आशा है कि सन् 2012 में सरकार ऐसे प्रावधान लाए जिसमें बच्चों, स्त्रियों तथा वृद्धों की सुरक्षा और खुशहाली बढ़े। उन्हें अनेक अधिकार बिना ज्यादा मेहनत और मुकदमेबाजी किए मिले। भ्रष्टाचार से लड़ने के लिए मुहिम की जरूरत है पर घर-परिवार पास-पड़ोस सड़कों, स्कूलों, अस्पतालों में कमजोर लोगों को ज्यादा सुरक्षा एवं सद्भाव मिले ऐसा सामाजिक ताना-बाना बुनने और सामाजिक बदलाव लाने की बहुत ज्यादा जरूरत है। सिर्फ कानून बनाना काफी नहीं है। वैसे भी अदालती चक्कर लगाकर त्वरित न्याय पाना टेढ़ी खीर है। पुराने कानूनों पर अमली जामा चढ़े सन् 2012 की कामना यह भी है।

- देश की 35 फीसद औरतें घरों में प्रताड़ित हैं
- 39 फीसद पुरुष-औरतें दोनों पति द्वारा पत्नी की (कभी-कभी या हमेशा) पिटाई को सही मानते हैं
- 10 फीसद औरतें यौन हिंसा की भी शिकार हैं
- 63 फीसद औरतों घर में कोई फैसले लेने का अधिकार नहीं है

ताकि मान-सम्मान के साथ नई जिंदगी मिले

अलका आर्य

लेखिका स्वतंत्र पत्रकार हैं।

दिल्ली उच्च अदालत की तल्ख टिप्पणी और आदेश के बाद केंद्रीय महिला एवं बाल विकास मंत्रालय ने अंततः दुष्कर्म पीड़ित लड़कियों/महिलाओं की वित्तीय मदद के लिए बनाई गई योजना की घोषणा कर दी और जल्द ही इस पर अमल भी शुरू हो जाएगा। महिला एवं बाल विकास मंत्रालय ने दुष्कर्म पीड़ितों का मान-सम्मान लौटाकर नई जिंदगी की शुरुआत करने के मकसद से जो योजना तैयार की है, उसकी दरकार काफी समय से थी। ऐसी सहायता इंसाफ की बहाली को सुनिश्चित करने की दिशा में की जाने वाली कोशिशों का एक हिस्सा भर है। दो महीने पहले योजना आयोग ने केंद्रीय महिला - बाल मंत्रालय को लिखे एक पत्र में यह नोट भी नत्थी किया था कि अपराधियों को सजा दिलाए जाने के साथ-साथ पीड़ित महिला की गरिमा एवं आत्मविश्वास का बहाल किया जाना भी जरूरी है।

पुनर्वास योजना का मकसद सिर्फ पीड़िता को धन दिलाना ही नहीं, बल्कि उसके आत्मविश्वास को भी बहाल करना है।

यह उपचारात्मक न्याय का वह सिद्धांत है, जिसके आधार में पीड़ित महिला के उस सदमे से जिससे वह गुजरती है, को संबोधित करना आवश्यक है और नतीजतन मुआवजे के रूप में वित्तीय सहायता व अन्य सपोर्ट सेवाओं की जरूरत होती है। इस योजना के अनुसार बलात्कार की हर पीड़ित महिला को दो लाख रुपए की सहायता किस्तों में दी जाएगी। अगर वह नाबालिग या मानसिक रूप से विकलांग या बलात्कार के परिणामस्वरूप गर्भवती या एड्स पीड़ित हो जाए, तो यह सहायता तीन लाख रुपए होगी। पीड़िता को स्वयं या उसकी ओर से मुकदमा दर्ज होने के 60 दिन के भीतर पुनर्वास बोर्ड में आवेदन देना होगा। दुष्कर्म का मुकदमा दर्ज होने के 72 घंटे के भीतर पुलिस को रिपोर्ट पुनर्वास बोर्ड के समक्ष रखनी होगी।

गौरतलब है कि वित्तीय सहायता का मूल्यांकन सिर्फ पीड़ित महिला के इलाज के दायरे तक ही सीमित नहीं कर सकते, बल्कि यह उसके सामाजिक सशक्तिकरण में भी अहम भूमिका निभा सकती है। यह इस योजना का अति महत्वपूर्ण पहलू है, मगर इसकी सफलता पर अभी से ही सवालिया निशान लगने शुरू हो गए हैं। कुछेक की राय में अपराध के बीच फर्क नहीं करना चाहिए और मुआवजे वाला प्रावधान असंवैधानिक है तो कुछेक का मानना है कि आर्थिक मदद तय करने का अधिकार अदालत के ऊपर छोड़ देना चाहिए।

एक आशंका यह भी जताई जा रही है कि अगर इसके दुरुपयोग को लेकर ठोस प्रावधान नहीं किए गए तो इस कानून का हश्र भी कहीं दहेज उत्पीड़न कानून की तरह न हो जाए। प्रसंगवश बता दिया जाए कि देश की सर्वोच्च अदालत ने कई बार दहेज उत्पीड़न कानून के दुरुपयोग पर चिंता जाहिर की है। यहां कई सवाल सामने खड़े हैं। तीखा सवाल यह किया जा रहा है कि यह कोई प्राकृतिक आपदा नहीं है, जिसका हम सामना नहीं कर सकते? क्या सरकार को ऐसी योजना की घोषणा करने के बजाय दुष्कर्म पीड़िता को जल्द इंसाफ दिलाने की व्यवस्था पर ध्यान नहीं केंद्रित करना चाहिए था। पीड़ितों को संरक्षण, यौन अपराधों की रपट दर्ज कराने के लिए बुनियादी ढांचा उपलब्ध कराने पर अधिक जोर देने की जरूरत है, यूएन की एक रपट ने भी इसकी पुष्टि की है। इसके साथ ही मौजूदा भ्रष्ट सरकारी तंत्र में पीड़िता को बिना रिश्वत दिए उसे पूरी रकम तय समयसीमा के भीतर मिल जाना और उस रकम का सही इस्तेमाल होना एक बहुत बड़ा सवाल है।

अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति की दुष्कर्म पीड़ित लड़कियों/महिलाओं की आर्थिक मदद के लिए राज्य सरकारों ने एक योजना शुरू कर रखी है, मगर रपटें इस योजना के दुरुपयोग बाबत आगाह करती हैं। पीड़िता को मिलने वाली रकम का कुछ हिस्सा जारी करने वाले सरकारी बाबू, सरकारी वकील हड़प लेते हैं तो कई बार गांव के ताकतवर लोग अपने दुश्मनों से बदला लेने के लिए बलात्कार को हथियार की तरह इस्तेमाल करते हैं और उसके लिए अनुसूचित जाति/आदिवासी लड़कियों पर बलात्कार के झूठे आरोप दर्ज कराने का दबाव बनाते हैं। पुनर्वास योजना का मकसद सिर्फ पीड़िता को धन दिलाना ही नहीं, बल्कि उसके आत्मविश्वास को भी बहाल करना है। उस तक पूरी रकम सरकारी खजाने से बिना किसी बाधा के समय पर पहुंचे, पीड़िता इस रकम का कैसे सदुपयोग कर पाती है जैसे महत्वपूर्ण बिंदु इस योजना की बहुत हद तक सफलता तय करेंगे।

राज्य की ओर से वित्तीय सहायता मिलने पर बहुत हद तक अदालत की उस प्रवृत्ति पर रोक लग सकती है, जिसमें बलात्कार के दोषी पीड़ित गरीब महिलाओं को मुआवजा देकर अपनी सजा कम करा लेते हैं और कई मामलों में तो पीड़िता के परिवार वालों को पैसा देकर केस दर्ज कराने से रोकने में कामयाब हो जाते हैं।

alkaarya2001@gmail.com

यौन उत्पीड़न संरक्षण विधेयक का दायरा

मुद्दा

अलका आर्य

बीते दिनों मानव संसाधन विकास मंत्रालय से संबधित संसद की स्थायी समिति ने 'कार्यस्थल पर महिला यौन उत्पीड़न संरक्षण विधेयक, 2010' की जो जांच रिपोर्ट संसद में पेश की है, उसकी दो प्रमुख सिफारिशें गौरतलब हैं। एक विधेयक के दायरे में घरेलू कर्मचारियों को भी लाने की सिफारिश और दूसरे, पुरुषों को भी यौन उत्पीड़न के मामलों में संरक्षण की सिफारिश। गौरतलब है कि प्रस्तावित विधेयक के दायरे में घरों में काम करने वाले लाखों घरेलू कर्मचारी शामिल नहीं हैं। इस संबंध में महिला एवं बाल विकास मंत्रालय ने स्पष्ट किया था कि घरेलू कर्मचारियों को जान-बूझकर प्रस्तावित कानून के दायरे से बाहर रखा गया है क्योंकि घर के भीतर कानून लागू करने में व्यावहारिक दिक्कतें हैं। कारण, घरों के भीतर कोई आचार संहिता निर्धारित नहीं की जा सकती। इसके अलावा अब तक घरेलू कर्मचारियों के लिए ऐसी कोई नीति नहीं है जिसमें उनकी सेवा के निबंधन और शर्तें तथा कार्यस्थल पर सुरक्षा की बात निर्धारित की गई हो।

वास्तव में घरेलू कार्य अधिक विनियमित क्षेत्र नहीं है और चिंता की बात यह है कि इस कानून का सहारा लेने वाले घरेलू कर्मचारियों के पीड़ित होने की आशंका बनी रहेगी। लेकिन समिति मंत्रालय की इस दलील से सहमत नहीं है कि घर के भीतर कोई आचार संहिता न होने की स्थिति में इसे लागू करने में व्यावहारिक दिक्कतें होंगी। संसदीय समिति का मानना है कि किसी घर की निजता को महिला श्रमशक्ति के विरुद्ध अनुचित कार्य को ढकने के लिए बहाने के तौर पर इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। समिति का विचार है कि घरेलू कर्मचारियों को प्रस्तावित कानून में शामिल करने को संभव बनाने के लिए नवाचारी सोच की जरूरत है। घर की चारदीवारी के भीतर घरेलू कर्मचारियों के यौन उत्पीड़न के मामलों की सुनवाई करने के तरीके खोजे जा सकते हैं। साथ ही, घरेलू हिंसा से महिलाओं की सुरक्षा अधिनियम, 2005 के कार्यान्वयन से हासिल अनुभवों को भी यौन उत्पीड़न के मामलों में इस्तेमाल किया जा सकता है।

कई अध्ययन बताते हैं कि ऐसी महिलाए यौन उत्पीड़न के निशाने पर अधिक हैं। ये दफ्तरों, कारखानों में काम करने वाली महिलाओं की तुलना में बहुत कम पढ़ी-लिखी होती हैं। इनके आत्म विश्वास का स्तर भी बहुत कम होता है। असंगठित क्षेत्र में घरेलू कर्मचारियों में करीब 30 प्रतिशत महिलाएं होती हैं। प्रस्तावित विधेयक में इस तथ्य को भी नजरअंदाज किया गया कि भारत सरकार ने आईएलओ कंवेंशन 189 फॉर डीसेंट वर्क फॉर डोमोस्टिक वर्कस के पक्ष में मत दिया है।और इसने घर को कार्यस्थल के रूप में मान्यता दी है। यह कहना ज्यादा न्यायसंगत होगा कि कामकाजी महिला होने के नाते इनको भी प्रस्तावित विधेयक में यह कानूनी हक मिलना चाहिए था लेकिन महिला व बाल विकास मंत्रालय ने इसे अव्यावाहिरक बताते हुए ऐसा नहीं किया।

राष्ट्रीय महिला आयोग घरेलू कर्मचारियों को इसके दायरे में लाने के पक्ष में था। समिति के समक्ष पेश सभी पक्षों की भी राय भी यही थी। राष्ट्रीय सलाहकार परिषद ने घरेलू कर्मचारियों को इस विधेयक के दायरे में लाने की वकालत की है। पंजाब व गुजरात राज्य सरकारों ने भी इन्हें विधेयक में शामिल करने का समर्थन किया है। उम्मीद है संसदीय समिति के इस सुझाव को सरकार प्रस्तावित विधेयक में शामिल कर लाखों घरेलू कर्मचारियों को उनका कानूनी हक दिलाएगी। दूसरा सुझाव लैंगिक तटस्थता का है। विधेयक का मसौदा महिला व बाल विकास विभाग और राष्ट्रीय महिला आयोग ने मिलकर तैयार किया था और इस निमित्त पुरुष संगठनों की राय नहीं ली गई। संसदीय समिति ने पुरुष संगठनों और संस्थाओं को अपनी राय रखने का मौका दिया। उनका तर्क है कि कानून में किसी भी लिंग के प्रति तटस्थ भाव होना चाहिए ताकि पुरुषों को भी यौन उत्पीड़न के मामलों में संरक्षण मिल सके।

समिति की राय है कि सभी के हित ध्यान में रखते हुए पुरुषो के बारे में भी सोचा जाना चाहिए। पीड़ित पुरुष कर्मचारियों को भी कानून के तहत संरक्षण मिलने का प्रावधान होना चाहिए। नियोक्ता या प्रतिष्ठान की सालाना रिपोर्ट में पुरुषों के यौन उत्पीड़न के मामले भी शामिल किया जाएं पर अधिकांश महिला संगठनों को समिति के सुझाव पर आपत्ति है क्योंकि उनकी राय में महिलाओं को यौन उत्पीड़न का सामना अपेक्षाकृत अधिक करना पड़ता है। डेनमार्क, ब्रिटेन, इटली, आयरलैंड, फिनलैंड, फ्रांस, जर्मनी, पुर्तगाल, स्पेन, नीदरलैंड आदि मुल्कों में लैंगिक उत्पीड़न संबंधी कानून लैंगिक रूप से तटस्थ है मगर अपने यहां महिला संगठन फिलहाल इसके लिए तैयार नहीं दिखते। महिला व बाल विकास विभाग और राष्ट्रीय महिला आयोग, जिसने विधेयक तैयार करने के दौरान पुरुषों से इस मुददे पर कोई मशविरा तक करना उचित नहीं समझा, क्या इसे शामिल होने देंगे।

'महिलाओं के साथ हिंसा मानव अधिकार का उल्लंघन है'

सूचना अधिकार की चुनौतियां

हरबंश दीक्षित

बीच बहस में

सूचना अधिकार के दुरुपयोग पर एक बार फिर बहस शुरू हो गई है। इस बार बहस की शुरुआत प्रधानमंत्री ने की है। इससे पहले सीबीआई तथा न्यायपालिका सहित कुछ लोकायुक्तों की तरफ से भी समय-समय पर ऐसे सुझाव आते रहे हैं। बीते अगस्त में सुप्रीम कोर्ट ने कहा था कि यदि इस कानून के दुरुपयोग को नहीं रोका गया, तो इससे कई समस्याएं खड़ी हो जाएंगी। अदालत ने यह भी कहा कि कोई राष्ट्र यह नहीं चाहेगा कि सरकारी विभागों के 75 फीसदी कर्मचारी अपने कामकाज के 75 फीसदी समय में केवल सूचनाएं देने में उलझे रहें, इससे काम बाधित होगा।

प्रधानमंत्री और शीर्ष अदालत की चिंता से सहमत होने वालों की अच्छी-खासी संख्या है। सरकारी दफ्तरों में तो ऐसे लोगों की संख्या बहुत ज्यादा है, जो इससे त्रस्त हैं। दूसरे कानूनों की तरह इस कानून के भी दुरुपयोग के मामले आ रहे हैं। कुछ जगहों पर इसे भयादोहन का हथियार बनाने की खबरें भी आई हैं। यदि सब कुछ इसी तरह चलता रहा, तो कुछ वर्षों में दफ्तरों में रोजमर्रा के मामलों के निस्तारण में देरी आएगी, जिस कारण यह कानून अप्रासंगिक हो जाएगा।

सूचना अधिकार कानून ने काफी कम समय में लोगों का इतना विश्वास हासिल किया है, जिसे कायम रखने की अपनी चुनौतियां हैं। यह अभी शुरुआती विकास के दौर में है, जिसे और मजबूत बनाए जाने की जरूरत है। इस कानून में सभी विभागों से अपेक्षा की गई है कि वे अपने विभाग से संबंधित तमाम जानकारियां इंटरनेट तथा अन्य माध्यमों से प्रकाशित करेंगे। इसे 12 अक्तूबर, 2005 तक ही पूरा किया जाना था, जो अब तक आंशिक रूप से ही पूरा हो पाया है। इसके लिए जवाबदेही भी सुनिश्चित नहीं की गई है और जवाबदेह अधिकारी को दंडित किए जाने का प्रावधान भी नहीं है। यदि वांछित सूचनाएं हर विभाग द्वारा उपलब्ध करा दी जाए, तो बहुत-सी आपत्तियों का स्वतः निवारण हो जाएगा।

मोटे अनुमान के मुताबिक, देश भर के सूचना आयुक्तों के यहां तीन लाख से ज्यादा मामले लंबित हैं। इसका सबसे बड़ा कारण जरूरत के अनुसार सूचना आयुक्तों का अभाव है। सूचना अधिकार कानून में कहा गया है कि प्रत्येक राज्य में एक मुख्य सूचना आयुक्त तथा अधिकतम दस सूचना आयुक्त होंगे। सूचना आयुक्तों की यह अधिकतम संख्या उत्तराखंड तथा छत्तीसगढ़ जैसे छोटे राज्यों के लिए उपयुक्त हो सकती है, लेकिन उत्तर प्रदेश जैसे बड़े राज्यों के लिए नाकाफी है। कानून में संशोधन कर हर जिले के लिए कम से कम एक सूचना आयुक्त की नियुक्ति जरूरी है।

विलंब का एक कारण यह भी है कि सूचना आयुक्तों के यहां विवाद निस्तारण की अधिकतम अवधि निर्धारित नहीं है, जबकि लोक सूचना अधिकारी के लिए तीस दिन तथा प्रथम अपीलीय अधिकारी के लिए पैंतालिस दिन का समय निर्धारित है। इसी का परिणाम है कि लोक सूचना अधिकारियों के समक्ष लंबित मामलों की संख्या नगण्य है, जबकि सूचना आयुक्तों के यहां लंबित मामलों की संख्या बढ़ती जा रही है।

बेशक इस कानून में भी खामियां हो सकती हैं, लेकिन इसने भ्रष्टाचार के खिलाफ लड़ाई में नई इबारतें लिखी हैं। यही वजह है कि यह कानून जनप्रतिनिधियों और नौकरशाहों की आंखों की किरकिरी बना हुआ है। न्यायपालिका ने भी शुरू में खुद को इस कानून से अलग रखने की कोशिश की। सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीशों की संपत्ति का ब्योरा हासिल करने के लिए सूचना अधिकार के कार्यकर्ता सुभाष अग्रवाल को लंबी लड़ाई लड़नी पड़ी। अंततः न्यायाधीशों की परिसंपत्तियों की सूचना देने का फैसला आया, तो उससे पारदर्शिता के इस आंदोलन को एक नई दिशा मिली। इससे यह बात भी साफ हो गई कि गोपनीयता का सुरक्षा कवच सबको समान रूप से सम्मोहित करता है।

दरअसल जनाधिकारों को सर्वसुलभ बनाने की पहल दोधारी तलवार की तरह होती है, जिससे एक ओर जनाधिकारों को नई परिभाषा मिलती है, दूसरी ओर उसके दुरुपयोग की आशंकाएं भी रहती हैं। कई बार दुरुपयोग की सूचनाओं को अतिरंजित करके भी पेश किया जाता है। प्रभावशाली वर्ग इसे मौके के रूप में इस्तेमाल करके उसे कमजोर करने की कोशिश भी करता है। इसलिए एकतरफा बातों पर पूरी तरह भरोसा करना उचित नहीं है।

संभव है राष्ट्रीय स्तर पर शिकायत निवारण व्यवस्था

भारत डोगरा

लेखक स्तंभकार हैं।

सूचना के अधिकार के राष्ट्रीय अभियान ने शिकायत निवारण कानून का एक ड्राफ्ट तैयार किया है, जो काफी सराहा भी गया है। इस ड्राफ्ट को तैयार करने में सूचना के अधिकार के कानून के अनुभव से भी काफी सहायता मिल सकी है।

हाल के समय में सिटिजंस चार्टर व शिकायत निवारण व्यवस्था का मुद्दा काफी चर्चा में रहा है और कई राज्य सरकारों जैसे मध्य प्रदेश, राजस्थान, दिल्ली आदि ने इस संदर्भ में कुछ सराहनीय कदम भी उठाए हैं। राष्ट्रीय स्तर पर शिकायत निवारण का कानून बनाने की दिशा में केंद्रीय सरकार सक्रिय हुई है।

जाहिर है, जनता की यह आवाज सरकार तक भी पहुंचने लगी है कि आम लोग अपनी शिकायतों की सुनवाई सरकारी तंत्र में न होने पर कितने परेशान होते हैं। अतः अब सरकार भी इस दिशा में कुछ महत्वपूर्ण पहल का मन बना चुकी है।

पर यह सवाल अभी हमारे सामने है कि इसके लिए बनाया जाने वाला कानून कितना मजबूत व व्यावहारिक स्तर पर कितना असरदार होगा। वह महज एक नया प्रशासनिक ढांचा खड़ा कर देगा या आम लोगों को सही अर्थों में सशक्त करेगा। इस दिशा में हो रहे अधिकांश प्रयासों में इतना तो सामान्य तौर पर माना जा रहा है कि विभिन्न सार्वजनिक प्राधिकरणों की नागरिकों के प्रति जिम्मेदारियों को समयबद्ध ढंग से परिभाषित किया जाए कि कौन-सा कार्य इनको कितने समय पर पूरा करना है। इसके साथ ही यह व्यवस्था हो कि यदि यह समयबद्ध जिम्मेदारी पूरी नहीं की जाती है तो इसके लिए समयबद्ध शिकायत निवारण प्रणाली विकसित की जाए।

इन मूल मान्यताओं के आगे कई सवाल हैं कि शिकायत निवारण व्यवस्था कितनी निष्पक्ष व न्यायसंगत बन सकेगी व आम लोगों को शीघ्र न्याय प्राप्त करने की कितनी संभावना होगी। विशेषकर दूर-दूर के गांवों में व निर्धन, कम शिक्षित परिवारों के संदर्भ में महत्वपूर्ण सवाल यह है कि क्या उन तक भी इस शिकायत निवारण व्यवस्था का लाभ पहुंच पाएगा, जबकि शिकायत निवारण की सबसे बड़ी जरूरत तो उनको ही है।

इस संदर्भ में सूचना के अधिकार के राष्ट्रीय अभियान ने शिकायत निवारण कानून का एक ड्राफ्ट तैयार किया है, जो काफी सराहा भी गया है। इस ड्राफ्ट को तैयार करने में सूचना के अधिकार के कानून के अनुभव से भी काफी सहायता मिल सकी है। जिस तरह सूचना के अधिकार के कानून में राष्ट्रीय व राज्य स्तर पर सूचना आयोगों की स्थापना की व्यवस्था है वैसे इस ड्राफ्ट में शिकायत निवारण आयोगों की राज्य व केंद्र स्तर पर स्थापना की व्यवस्था है। शिकायत कानून के इस ड्राफ्ट में बताया गया है के देश के सभी ब्लाकों या प्रखंडों में शिकायत निवारण सहायता केंद्र स्थापित होने चाहिए, जो शिकायत निवारण के कार्य में आम लोगों विशेषकर कम शिक्षित व निर्धन परिवारों को सहयोग देंगे। सभी सार्वजनिक प्राधिकरणों में किसी अधिकारी को शिकायत निवारण अधिकारी के रूप में चयनित किया जाएगा। इस शिकायत निवारण अधिकारी को नागरिक व संगठन सीधे अपनी शिकायत भेज सकते हैं या उनकी शिकायत ब्लाक स्तर के शिकायत निवारण कार्यालय द्वारा भेजी जा सकती है।

उम्मीद है कि शिकायत निवारण अधिकारी समयबद्ध सीमा में शिकायत का संतोषजनक समाधान करेगा व जरूरत होने पर अधिकारी के लिए अनुकूल सजा की व्यवस्था भी करेगा, पर यदि उसके समय में कार्रवाई न की या उसके आदेश कार्यान्वित न हो तो इसकी अपील शिकायत निवारण आयोगों की जिला स्तर के शिकायत निवारण कार्यालय में की जा सकेगी। इस स्तर पर उम्मीद है कि शिकायत निवारण हो जाएगा। अधिकारी के दोषी पाए जाने पर सजा की व्यवस्था होगी। यदि भ्रष्टाचार का मामला बनता है तो इसकी अलग से जांच के लिए भेजा जाएगा। यदि यह आवश्यक समझा जाता है तो शिकायतकर्ता के लिए मुआवजे की व्यवस्था भी की जाएगी। जिला स्तर पर न्याय न मिलने पर राज्य व केंद्र स्तर के शिकायत निवारण आयोगों में अपील करने का प्रावधान भी इस ड्राफ्ट बिल में है।

इस ड्राफ्ट बिल की जानकारी अधिक लोगों तक पहुंचाने के लिए व विभिन्न संगठनों व नागरिकों के विचार इस बारे में प्राप्त करने के लिए सम्मेलन, कार्यशाला आदि का आयोजन किया जा रहा है। विभिन्न व्यवहारिक संदर्भों में यह कानून कैसे काम कर सकता है, इसकी बेहतर समझ बनाने के लिए स्वास्थ्य, शिक्षा, सार्वजनिक वितरण प्रणाली, आवास, मनरेगा, बिजली, पानी, सामाजिक सुरक्षा, पंचायत राज, पर्यावरण व वन आदि के संदर्भ में शिकायत निवारण प्रणाली कैसे कार्य करेगी, इस बारे में कार्यशालाओं का आयोजन किया जा रहा है।

■ जगदानंद
राज्य सूचना आयुक्त, उड़ीसा

अभी तो पूरे प्रावधान ही लागू नहीं हुए

सूचना अधिकार कानून को दो अहम उद्देश्य से लागू किया गया था। पहला यह कि इससे व्यवस्था में शुचिता और जवाबदेही लाई जा सकेगी जिससे पारदर्शिता बढ़े और भ्रष्टाचार कम हो जाए। दूसरा मकसद यह था कि जितनी सरकारी संस्थाएं हैं या फिर वैसी संस्थाएं हैं, जो सरकार से मदद लेती हैं और संविधान द्वारा सत्यापित की गई हैं, उन्हें अपनी-अपनी कार्यप्रणाली और कार्यक्रम और सम्बन्धित नियमों को 120 दिनों के अंदर वेबसाइट पर डालना था। इसके अलावा कोई भी नागरिक अगर कोई सूचना चाहे तो उसे 30 दिनों के अंदर मुहैया कराना था। छह साल बाद भी इस दूसरे पहलू पर काफी काम बाकी है।

अगर सरकारी विभाग और संस्थाएं इस काम को सही ढंग से पूरा कर लेती तो कई मामलों में सूचना मांगे जाने की जरूरत ही नहीं होती। इस कानून के तहत पंचायत से लेकर संसद तक की कार्यप्रणाली और कामकाज को कम्प्यूटराइजेशन करने की बात शामिल थी। छोटे से लेकर बड़े काम तक ऑनलाइन दस्तावेज बन जाता है, जिसे कोई भी इंटरनेट के जरिए देख सकता था लेकिन यह काम अभी तक नहीं हो पाया है। हालांकि समाज में आरटीआई एक्ट को लेकर एक माहौल जरूर बना है। सरकारी कामकाज पर गलती होने पर सवाल उठ रहे हैं। लोग बाग आरटीआई के जरिए सरकारी कामकाज के बारे में तरह-तरह के सवाल भी पूछ रहे हैं लेकिन यह शहरी इलाकों में कहीं ज्यादा हो रहा है। देश की ग्रामीण आबादी अब भी इस कानून का पूरा लाभ नहीं उठा रही है। गांवों में चले जाइए या फिर आदिवासी बहुल इलाकों में जाकर देखिए तो पता चलेगा वहां के लोगों को इस कानून के बारे में ज्यादा जानकारी नहीं है। जिन लोगों के पास थोड़ी-बहुत जानकारी है, उनमें भी यह समझ नहीं है कि इस कानून का इस्तेमाल कैसे करें? कहां से जानकारी मांगें? कहां फीस जमा करनी है और वह जानकारी कैसे हासिल होगी?

इसकी वजह यही है कि सरकार को इस कानून का जितना प्रचार-प्रसार करना चाहिए था, वह नहीं हो पाया है। हालांकि कुछ राज्यों में इसको लेकर सराहनीय काम जरूर हुए हैं। मसलन, बिहार सरकार ने अपने जानकारी सेंटर की व्यवस्था की है, जहां एक टेलीफोन कॉल पर ही आपका आरटीआई रजिस्टर हो जाता है। यह एक अच्छी व्यवस्था है। मेरे राज्य उड़ीसा में कई सामाजिक संस्थाएं आरटीआई क्लीनिक चलाती हैं, जहां वे आदिवासी और गरीब लोगों तक इस कानून के इस्तेमाल के बारे में जानकारी देते हैं। एक सिटीजन असिस्टेंस सेंटर का हर पंचायत में होना जरूरी है, तभी पूरे लोग इस कानून का लाभ ले पाएंगे। एक बड़ी मुश्किल अब भी बनी हुई है- - वह है सरकारी विभागों में काम करने वाले लोगों की मानसिकता। जो सरकारी गोपनीयता अधिनियम का हवाला देकर जानकारी को छुपाने की मानसिकता से अभी तक उबर नहीं पा रहे हैं। इसलिए कभी-कभी आरटीआई आवेदन पत्र पर सरकारी विभाग की पहली प्रतिक्रिया यही होती है कि किस चीज को आधार बनाकर जानकारी देने से मना कर दिया जाए। सूचना अधिकारियों की नियुक्ति को सही ढंग से प्रशिक्षण देने की जरूरत है। इस कानून में एक और बात शामिल थी। धारा 4 (1) के तहत एक महत्वपूर्ण पहलू भी शामिल था, जिसके तहत कहा गया था कि कोई भी नीति या नियम जो एक साथ बहुत सारे लोगों के जीवन को प्रभावित करता है, उसे लागू करने से थोड़े पहले से आम लोगों के इस्तेमाल के लिए उपलब्ध कराना चाहिए, इससे आम लोगों की प्रस्तावित नियमों पर क्या प्रतिक्रिया होती है, इसका फीडबैक मिल जाएगा और इस फीडबैक के आधार पर कानून या नियम में तर्कसंगत बदलाव करना संभव होगा। यह भी अभी तक नहीं हो पाया। अगर ऐसा हो जाता है तो लोग और प्रशासन के बीच आपसी रिश्ता ज्यादा सहज हो पाता।

आरटीआई के बारे में ही लोगों को बहुत कम जानकारी है। शहर में कुछेक जानते भी हैं तो गांव के गांव अनजान हैं। इसके लिए पंचायत स्तर पर एक सूचना सहायता केंद्र खोलना जरूरी है। संसद से लेकर पंचायतों के कामकाज का कम्प्यूटरीकरण बाकी है। सरकारी या सरकारी मदद से चलने वाली संस्थाओं को अपने नियमों की जानकारी 120 दिनों के भीतर ऑनलाइन करने का काम नहीं हुआ है। सूचना छिपाने की गुंजाइश खोजने वाले अफसरों को प्रशिक्षित किया जाना है। फिर केंद्र-राज्य सूचना आयुक्तों की वार्षिक सिफारिश रिपोर्टों पर भी एक्शन लिया जाना है

इसके अलावा प्रत्येक सरकारी विभाग के लिए इस कानून की धारा 4 (1) के तहत यह भी प्रावधान है कि वह कामकाज प्रणाली के बारे में वह आमलोगों को सूचना पट्ट के जरिए सूचित करें। मान लीजिए किसी को नगर निगम से अपने मकान का नक्शा पास कराना है तो नगर निगम में इस बात की सूचना पहले से उपलब्ध होनी चाहिए कि आपको मकान का नक्शा कितने दिन के अंदर मंजूर होगा। तभी लोगों को किसी काम को लेकर दफ्तरों के लगातार चक्कर काटने और रिश्वत देने का सिलसिला बंद होगा। यह काम अभी भी सरकारी दफ्तरों में नहीं हुआ है।

इस कानून के सुचारु तरीके से लागू कराने के लिए देश भर में कमीशन बने हुए हैं। केंद्र में केंद्रीय सूचना आयुक्त हैं तो राज्यों में भी सूचना आयुक्त हैं। इनके जिम्मे मुख्यतः दो काम हैं-एक तो मामलों को जल्दी से निपटाने की व्यवस्था करनी है और आरटीआई एक्ट के ऊपर भी निगरानी रखनी है। दूसरी जिम्मेदारी यह है कि आरटीआई एक्ट कैसे चल रहा है, इस पर सरकारों को अपनी रिपोर्ट देनी होती है। केंद्रीय सूचना आयुक्त हर साल संसद को अपनी रिपोर्ट देते हैं जबकि राज्य सूचना आयुक्त हर साल विधानसभा को अपनी रिपोर्ट सौंपते हैं। इन रिपोर्टों में सुझाव होते हैं, जिनके जरिए इस कानून को बेहतर बनाया जा सकता है। दुखद है कि अब तक इन रिपोर्टों पर ध्यान ही नहीं दिया है जबकि जरूरत इस बात की है कि इन रिपोर्टों के आधार पर एक एक्शन टेकन रिपोर्ट हर साल पेश किया जाना चाहिए। बहरहाल, यह एक ऐतिहासिक कानून है और इस पर निगरानी के लिए एक सक्रिय नागरिक समाज की जरूरत है।

क्या है सशस्त्र बल विशेषाधिकार कानून

■ सशस्त्र बल विशेषाधिकार कानून 11, सितम्बर 1958 को संसद में पारित किया गया था। इस कानून की धारा 4 के तहत सेना को अशांत क्षेत्रों में शरारती तत्वों को गोली मार देने, बिना वारंट की तलाशी लेने या गिरफ्तार करने, सम्पति जब्त या नष्ट करने जैसे विशेषाधिकार प्राप्त हैं। इस कानून की धारा 6 के तहत केंद्र की अनुमति के बिना सशस्त्र बलों के खिलाफ किसी तरह का अभियोग नहीं लगाया जा सकता।

■ इस अधिनियम के तहत सरकार किसी क्षेत्र विशेष को अशांत क्षेत्र घोषित कर सकती है। अगर वह इस नतीजे तक पहुंचती है कि उपरोक्त क्षेत्र या उसका एक हिस्सा एक ऐसी अशांत स्थिति में है कि नागरिक शासन की मदद के लिए सैन्य बलों का इस्तेमाल जरूरी है। सम्बन्धित प्रशासक ऐसे क्षेत्र या उसके किसी हिस्से को, जो किसी राय या केंद्रशासित प्रदेश का हिस्सा है, अशांत क्षेत्र घोषित कर सकता है। अधिनियम की धारा-चार किसी कमीशंड अफसर, वारंट अफसर या नान कमीशंड अधिकारी को ऐसे क्षेत्र में मिले अधिकार पर रोशनी डालता है। धारा-छह बताती है कि इस अधिनियम के अंतर्गत काम कर रहे किसी भी सरकारी अधिकारी के खिलाफ कानूनी कार्रवाई केंद्र सरकार की अनुमति से ही संभव है। यानी किसी भी नागरिक को ऐसे किसी सैन्य अधिकारी द्वारा किए गए अमानवीय कार्य के विरुद्ध मुकद्दमा चलाने के लिए न्यायालय का दरवाजा खटखटाने का कोई अधिकार नहीं है।

कहां-कहां लागू है कानून

■ सबसे पहले इसे पूर्वोत्तर के अशांत क्षेत्रों में लागू किया गया था, जो पांच दशक बाद आज भी वहां अस्तित्व में है। यह कानून 1958 से असम, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, नगालैंड, त्रिपुरा और अरुणाचल प्रदेश में लागू है। 1958 के करीब मणिपुर में उग्रवाद आरंभ हुआ। 1978 आते-आते पूरे मणिपुर में उग्रवाद पसर चुका था। वहां तीस से अधिक उग्रवादी विचारधारा वाले समूह इस वक्त सक्रिय हैं। 1980 में पूरे राज्य को अशांत घोषित करके इस विशेष कानून को लागू कर दिया गया। सेना के उग्रवाद विरोधी अभियान और विशेष कानून को लागू करने के बावजूद उग्रवादी संगठनों की संख्या बढ़ती ही जा रही है। जनता के दबाव में राज्य के कुछ हिस्से से इस कानून को उठाया गया। 1980-90 के दशक में पंजाब में जब अलगाववादी आंदोलन ने सिर उठाया, तो वहां भी इस कानून को लागू किया गया था। अगस्त 2004 में मणिपुर सरकार ने इसे कुछ क्षेत्रों से हटा लिया था।

जम्मू-कश्मीर में सशस्त्र बल विशेषाधिकार कानून

■ यह कानून जम्मू-कश्मीर में लागू करने के लिए 5 जुलाई, 1990 को संसद में सशस्त्र सेना (जम्मू-कश्मीर) विशेष शक्ति अधिनियम, 1990 पारित किया गया। शुरू में इसे नियंत्रण रेखा से 20 किलोमीटर तक पड़ने वाले इलाके में लागू किया गया। 1991 में इस कानून को राय के बाकी इलाकों में भी लागू कर दिया गया। अप्रैल, 2007 में प्रधानमंत्री ने कश्मीर में इस कानून की समीक्षा के लिए कार्यसमिति गठित की, उसने अपनी रिपोर्ट में इसे रद्द करने की सिफारिश की थी। सशस्त्र बलों के विरोध के कारण कैबिनेट ने कार्रवाई नहीं की।

सरकार की मजबूरी

■ जाहिर है, सशस्त्र बल विशेषाधिकार कानून को लागू रखने के पीछे सरकार की भी अपनी मजबूरियां हैं। किसी भी क्षेत्र को एक सीमित अवधि के लिए ही अशांत घोषित किया जाता है और छह महीने से पहले इसकी समीक्षा की जाती है। बहरहाल, इस अधिनियम को लागू करने के पीछे कई वजहें बताई जाती हैं। सबसे बड़ी वजह तो यह है कि कोई भी सैन्य बल विद्रोहग्रस्त, अशांत क्षेत्र में बिना समुचित वैधानिक सुरक्षा के अपने जवान नहीं भेजना चाहेगा।

■ अशांत क्षेत्रों में थोड़ी-सी भी ढिलाई से जवानों की जानें जा सकती हैं या सार्वजनिक स्थानों पर बड़े हमले हो सकते हैं। फिर, जब आतंकियों के विरुद्ध कार्रवाई शुरू होती है तो वे स्थानीय लोगों को सैन्य बलों के विरुद्ध मामला करवाने के लिए भड़काते हैं। मुठभेड़ों में स्थानीय आतंकियों का पलड़ा थोड़ा भारी ही रहता है। लोगों के बीच छुपे विद्रोहियों के खिलाफ कार्रवाई के दौरान निरपराध और उनके मकान आदि भी चपेट में आ जाते हैं।

पूर्वोत्तर की अनसुनी आवाज

प्रभात कुमार रॉय

बीच बहस में

मणिपुर में ईरोम चानू शर्मिला का विगत ग्यारह वर्षों से जारी आमरण अनशन एक बार फिर उस समय राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा में आया, जब उसने अन्ना हजारे के अनशन को अपनी हिमायत प्रदान की।

1970 के दशक में जब ईरोम शर्मिला छोटी उम्र की ही थी, तभी मणिपुर में उग्रवाद ने अपनी दस्तक दी। मणिपुर की पुरसुकून मनोरम पहाड़ियों पर बंदूकों और बमों के धमाके गूंजने लगे। नगालैंड और मिजोरम की खूनी बगावत से प्रेरित मणिपुर के पृथकतावादियों ने भी हथियार उठाकर हुकूमत-ए-हिंदुस्तान के खिलाफ जंग का ऐलान कर दिया। 22,350 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में फैला मणिपुर दशक बीतते-बीतते पूर्णतः उग्रवाद की चपेट में आ गया। इस सशस्त्र विद्रोह पर काबू पान के लिए 1980 में राज्य में सशस्त्र बल विशेषाधिकार अधिनियम(1958) लागू कर दिया गया। इस ऐक्ट के तहत सुरक्षा बलों को वैसे विशेषाधिकार प्राप्त हो जाते हैं, जो सांविधानिक रूप से किसी भी ऐक्ट के तहत पुलिस-प्रशासन को नहीं दिए गए हैं। इस ऐक्ट के तहत बिना वारंट के पूछताछ, तलाशी एवं गिरफ्तारी जैसे कई अधिकार सुरक्षा बलों को मिले। इसके अलावा इसमें कार्रवाई को अंजाम देनेवाले सुरक्षा बलों के अधिकारियों और जवानों पर किसी भी अदालत में मामला दायर नहीं किया जा सकता।

इस अधिनियम से लैस सुरक्षा बलों के अधिकारियों और जवानों ने उग्रवाद से लड़ते हुए कुछ मामलों में कानूनी मर्यादाओं का भी उल्लंघन किया, जिसके कारण इस कानून के प्रति विरोध का स्वर प्रबल हुआ। मणिपुर से इस कानून को खत्म करवाने के लिए ईरोम चानू शर्मिला ने दो नवंबर, 2000 से आमरण अनशन शुरू किया, जो आज भी जारी है। दरअसल आठवीं असम राइफल्स के जवानों ने मणिपुर के मालोम नामक स्थान पर दस बेगुनाह नागरिकों को अपनी गोलियों का शिकार बनाया था, जिसे देखकर ईरोम शर्मिला को बेहद आघात लगा और उसने अनशन शुरू कर दिया। पांच नवंबर, 2000 को पुलिस ने आत्महत्या का प्रयास करने के आरोप में उन्हें गिरफ्तार कर लिया। तभी से ईरोम शर्मिला की जिंदगी नाक द्वारा नली से दी जा रही तरल भोज्य पदार्थ पर चल रही है। कभी उन्हें गिरफ्तार कर लिया जाता है और कभी रिहा कर दिया जाता है।

दो अक्तूबर, 2006 को वह महात्मा गांधी की समाधि राजघाट भी पहुंची थी और राजधानी में अनेक सभाओं में भी शिरकत की थी। छह अक्तूबर, 2006 को दिल्ली पुलिस ने उसे फिर गिरफ्तार कर लिया।

केंद्र सरकार ने इस विवादास्पद कानून की समीक्षा की जिम्मेदारी सुप्रीम कोर्ट के वरिष्ठ जज रह चुके जस्टिस बीपी जीवन रेड्डी को सौंपी। उन्होंने सरकार से इस कानून को निरस्त करने की सिफारिश की, किंतु दुर्भाग्यवश जस्टिस रेड्डी की अनुशंसा को सरकार ने नजर अंदाज कर दिया।

दरअसल अभी तक कायदे से उन तमाम हालात की समीक्षा भी नहीं की गई है, जिनके कारण तकरीबन 25 लाख की आबादी वाले मणिपुर में उग्रवाद इस कदर परवान चढ़ा कि उसे नियंत्रित करने के लिए फौज उतारनी पड़ी। हालांकि पृथकतावादी अभियानों में आमतौर पर हिंदू और ईसाई नौजवान शामिल हुए हैं, लेकिन हिंसक अलगाववादी बगावत की प्रेरक शक्ति मजहब नहीं, बल्कि राज्य में फैला आर्थिक असंतोष और शोषण-उत्पीड़न है। मणिपुर में प्रमुखता से मैती, पंगल, कुकी, नगा जनजातियां हैं। वैष्णव संप्रदाय की कृष्ण भक्ति से सराबोर मणिपुर के युवक आखिर सशस्त्र पृथकतावादी संग्राम से क्यों जुड़े, यह एक जटिल प्रश्न है। पिछले तीस वर्षों के दौरान तकरीबन तीस हजार जिंदगियों की बलि लेनेवाला यह उग्रवाद मूलतः प्रांत के नौजवानों में व्याप्त भयावह बेरोजगारी और देश की आर्थिक सत्ता का कुछ हाथों में सिमटते चले जाने का कुपरिणाम है।

केंद्र सरकार और उल्फा नेतृत्व के बीच संघर्ष विराम को लेकर हुए समझौते से असम में शांति की आशा जगी है। उम्मीद है कि मणिपुर के सशस्त्र बागी भी उल्फा नेतृत्व का अनुसरण करेंगे तथा केंद्र सरकार भी गंभीरतापूर्वक इस विवादास्पद कानून को राज्य से हटाने पर विचार करेगी। काश कि मणिपुर के सशस्त्र बागी ईरोम शर्मिला के अहिंसक संग्राम की शक्ति को पहचान पाते, और केंद्र सरकार अन्ना हजारे की तरह ईरोम शर्मिला की भी सुध लेती!

इरोम के अनशन को कब उचित मान मिलेगा

कृपाशंकर चौबे

लेखक टिप्पणीकार हैं।

अनशन पर बैठने के कारण इरोम शर्मिला पर पहली बार सन 2000 में आत्महत्या की कोशिश का आरोप लगा और एक साल की जेल की सजा हुई। उसके बाद हर साल वे रिहा होती हैं और फिर अनशन के जुर्म में गिरफ्तार कर ली जाती हैं।

दिल्ली अक्सर पूर्वोत्तर की आवाज को सुनना ही नहीं चाहती। आज भी 11 साल से अनशन पर बैठीं मणिपुर की इरोम शर्मिला की मांग अनसुनी है। इरोम शर्मिला मणिपुर की आवाज हैं। उनकी आवाज नहीं सुनकर दिल्ली ने प्रकारांतर से अहिंसा के रास्ते चलने वाले लोकतांत्रिक आंदोलन के प्रति भी उदासीनता ही प्रदर्शित की है। पाठकों को याद दिला दें कि दो नवंबर 2000 को मणिपुर के मालोम में सशस्त्र सुरक्षा बलों ने सशस्त्र बल विशेषाधिकार कानून की आड़ लेकर दस बेगुनाहों को मार डाला था। उस घटना ने इरोम शर्मिला को इस कदर विचलित किया कि वे पांच नवंबर 2000 को आमरण अनशन पर बैठ गईं। उनकी एकमात्र मांग थी- मणिपुर में लागू सशस्त्र बल विशेषाधिकार कानून हटाया जाए। इरोम शर्मिला ने घोषणा की थी, 'मैं तब तक एक कौर भी अन्न नहीं खाऊंगी, न ही एक बूंद पानी पीऊंगी, जब तक सरकार इस काले कानून को वापस नहीं लेती। मेरा क्या होगा, यह महत्वपूर्ण नहीं है। मैं केवल अपना फर्ज निभा रही हूं।' अपनी घोषणा के मुताबिक आज तक इरोम शर्मिला ने अपना अनशन नहीं तोड़ा है। अनशन पर बैठने के कारण इरोम शर्मिला पर पहली बार सन 2000 में आत्महत्या की कोशिश का आरोप लगा और एक साल की जेल की सजा हुई। जेल में भी उनका अनशन जारी रहा। उसके बाद हर साल वे रिहा होती हैं और फिर अनशन पर बैठने के जुर्म में पुनः गिरफ्तार कर ली जाती हैं। स्वाधीन भारत में गांधी के बताए रास्ते पर आंदोलन को अपराध मानने के इस दृष्टांत को किस चीज की संज्ञा दी जाए?

11 साल के अनशन के दौरान इरोम शर्मिला ने स्वेच्छा से एक बूंद पानी भी नहीं पिया है। उनके होंठ सूखे हुए हैं। उनके नाक में नली लगी है जिससे फोर्स फिडिंग कर तरल पदार्थ दिया जाता है। लंबे समय से अनशन के कारण इरोम शर्मिला का मासिक धर्म खत्म हो गया है। मणिपुर की जनता के लिए शर्मिला ने अपने मातृत्व का बलिदान किया है। ग्यारह साल पहले इरोम शर्मिला ने जब अनशन शुरू किया था तो उनकी उम्र 28 साल थी। आज 39 साल है। पिछले 11 साल के दौरान इरोम शर्मिला अपनी मां इरोम शखी देवी से भी नहीं मिल पाई हैं। अपनी एक कविता में इरोम शर्मिला ने कहा है, 'अभी मौत मेरे दर नहीं आई/ इसलिए मैं अपनी दृष्टि के आईने में/ खांगलेई देख सकती हूं/ इतिहास के नए पन्ने पर लाल स्याही से अंकित/ ईश्वर और कीड़ों के युद्ध में/कहते हैं कि कीड़ों ने ईश्वर की जान ले ली।'

इरोम शर्मिला ने सशस्त्र बल विशेषाधिकार कानून की आड़ में मौतों को देखा है। इसीलिए उन्होंने आरोप लगाया कि इस कानून की आड़ में पूर्वोत्तर में तैनात सशस्त्र बलों के जवान निर्दोष लोगों के साथ गुलामों जैसा बर्ताव करते हैं और उनके द्वारा महिलाओं का अपहरण और बलात्कार किया जाना आम बात है। इरोम शर्मिला के आरोपों की जांच करने की जहमत आज तक सरकार ने नहीं उठाई। सरकार का वही घिसापिटा जवाब होता है कि ऐसा करने से सशस्त्र सुरक्षा बलों का मनोबल गिरेगा। सरकार के इसी रवैए ने पूर्वोत्तर में अलगाववाद को बढ़ावा दिया है। सेना के बल पर किसी भू-भाग पर कब्जा तो जमाए रखा जा सकता है किंतु वहां के निवासियों के हृदय को नहीं जीता जा सकता। 1949 में मणिपुर का भारत में विलय किया गया था।

संसद ने 1958 में सशस्त्र बल विशेषाधिकार कानून को पास किया था और उसे मणिपुर में लागू कर दिया गया। उसके बाद पूर्वोत्तर के सभी राज्यों में इसे लागू कर दिया गया। इस कानून के तहत सिर्फ संदेह के आधार पर सुरक्षाबल किसी पर भी गोली चला सकते हैं, किसी के घर छापेमारी कर सकते हैं। कहने की जरूरत नहीं कि यह कानून अपने चरित्र में ही जनविरोधी है। इस कानून के दुरुपयोग के मामलों को देखकर और मणिपुर समेत पूर्वोत्तर के लोगों के हृदय की बातें सुनकर ही वहां अमन की उम्मीद जगाई जा सकती है। इरोम शर्मिला इसी अमन के इंतजार में हैं। बेहतर कल के इंतजार में। अपनी एक कविता में उन्होंने कहा भी है, 'मैं तो शांति की सुगंध फैलाऊंगी/ अपने जन्मस्थल खांगलेई से/ आनेवाले युगों में/ यह सारी दुनिया में फैल जाएगी।' देखना है कि शांति, न्याय और मानवाधिकारों के इरोम शर्मिला के संघर्ष को दिल्ली, राष्ट्रीय राजनीतिक दलों और सिविल सोसाइटी की तरफ से कब उचित मान मिलता है।

हम कैसा
लोकपाल चाहते हैं

जनलोकपाल और सरकारी लोकपाल दोनों ही मसौदे से हम असहमत हैं। सरकारी लोकपाल एक लुंज-पुंज तथा कमजोर लोकपाल है। उससे भ्रष्टाचार खत्म करने की दिशा में कोई लाभ होता नजर नहीं आ रहा। दूसरी ओर अन्ना हजारे और उनकी टीम का जनलोकपाल बहुत ज्यादा ताकतवर बनाए जाने के कारण उसके निरकुंश और भ्रष्ट हो जाने का खतरा है। इससे हमारा लोकतंत्र ही नष्ट हो सकता है। हमने अधिकार क्षेत्रों को पांच भागों में बांटते हुए वैकल्पिक लोकपाल का प्रारूप तैयार किया है। इसके पीछे हमारी मान्यता है कि शक्ति किसी एक ढांचे में केन्द्रित न होकर कई ढांचों में मौजूद रहे ताकि निरकुंशता और तानाशाही का खतरा ही खत्म हो जाए। यही हमारे संविधान निर्माताओं ने भी चाहा था

■ अरुणा रॉय
मजदूर किसान शक्ति संगठन

देश में भ्रष्टाचार के खिलाफ जन मानस उद्वेलित और आन्दोलित है, विभिन्न प्रकार के विचार सामने आ रहे हैं। सर्वाधिक चर्चित विषय-लोकपाल है, जिससे भ्रष्टाचार खत्म होने की उम्मीद की जा रही है। इस समय देश की जनता के सामने प्रस्तावित लोकपाल कानून के तीन मसौदे हैं। एक मसौदा सरकार का है तथा दो मसौदे नागरिक समाज (सिविल सोसायटी) की ओर से आए हैं। एक परिपक्व लोकतंत्र में यह सामान्य बात है कि विचारों की विविधता का सम्मान हो, अपनी असहमति को अभिव्यक्त करने की सबको जगह मिलें।

अगर कोई पक्ष यह कहे कि जो जनलोकपाल के साथ नहीं है, वह सरकार के साथ है तो यह दुर्भाग्यपूर्ण है। इसलिए कि सरकार और अन्ना हजारे के इतर भी लोगों के विचार हो सकते हैं तथा उन्हें प्रस्तुत करने का लोगों को उतना ही हक है। लेकिन वातावरण ऐसा बनाया जा रहा है कि जो अन्ना के साथ नहीं हैं, वे मानों भ्रष्टाचार के पक्षधर हैं। इतना ही नहीं, सूचना के जन अधिकार के राष्ट्रीय अभियान द्वारा तैयार किए गए वैकल्पिक लोकपाल के प्रारूप को सिविल सोसायटी में दरार डालने वाला एक प्रयास बताया जा रहा है।

हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि न तो सरकार और न ही राष्ट्रीय सलाहकार परिषद का इससे कोई सरोकार है। यह पूरी तरह से सूचना के जन अधिकार के राष्ट्रीय अभियान द्वारा बनाया गया ड्राफ्ट है, जिसे बनाने की कवायद अन्ना हजारे के जंतर मंतर पर अप्रैल में किए गए अनशन से पूर्व ही शुरू हो गई थी। टीम अन्ना के कुछ सदस्य भी इसमें शुरुआती स्तर पर जुड़े रहे थे।

हां, जनलोकपाल और सरकारी लोकपाल दोनों ही मसौदे से हम असहमत हैं क्योंकि सरकारी लोकपाल एक लुंज-पुंज कमजोर लोकपाल है, जिसके दायरे से प्रधानमंत्री को बाहर रखा गया है तथा शिकायत निवारण की उसमें कोई प्रक्रिया ही नहीं रखी गई है। उल्टा शिकायत करने वालों को ही हतोत्साहित करने का प्रावधान रखा गया है। वह यह कि झूठी शिकायतें पाई जाने पर शिकायतकर्ता को 2 से वर्ष 5 जेल की सजा और 25 हजार से 2 लाख रुपये तक जुर्माने का प्रावधान किया गया है। सरकार ने जो लोकपाल संसद के जरिये संसदीय स्थायी समिति को विचारार्थ भेजा है, उससे भ्रष्टाचार खत्म करने की दिशा में कोई लाभ नजर नहीं आ रहा है।

दूसरी ओर अन्ना हजारे और उनकी टीम की ओर से बनाए गए जनलोकपाल को बेहद ताकतवर बनाया गया है। कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका इन सबके ऊपर होगा यह जनलोकपाल। यह पटवारी से लेकर प्रधानमंत्री तक सबकी शिकायत सुनेगा, मामले की जांच करेगा, सुनवाई करेगा और दोष साबित होने पर सजा भी देगा। यह लोगों की निजता के अधिकार का हनन करके उनके फोन टैप करेगा, एसएमएस और ई-मेल भी चेक करेगा तथा बिना न्यायालय से वारंट लिए तलाशी भी लेगा। टीम अन्ना का कहना है कि उनके द्वारा बनाया गया जनलोकपाल ही सर्वश्रेष्ठ है तथा वे इससे कम कुछ भी स्वीकार नहीं करेंगे।

जनलोकपाल से हमारी असहमति यह है कि इसे बहुत ज्यादा ताकतवर बनाए जाने के कारण यह निरकुंश और भ्रष्ट हो सकता है। इसके चलते हमारा लोकतंत्र ही नष्ट हो सकता है। जिस प्रकार के जनलोकपाल की कल्पना की गई है; वह संविधान के दायरे में भी व्यावहारिक नहीं लगता है क्योंकि यह संविधान से भी ऊपर होगा तथा इसे देश भर की शिकायतें सुनने का अधिकार भी दिए जाने से यह शिकायतों के बोझ तले दब भी सकता है।

क्या इस प्रकार हम 'आम आदमी' के आंदोलन नाम पर शक्ति के विकेन्द्रीकरण की हमारी संवैधानिक व्यवस्था, संसदीय जनतंत्र और संविधान की सर्वोच्चता पर अंगुली नहीं उठा रहे हैं? क्या हम दैत्य जैसा एक महाशक्तिशाली लोकपाल बनाएं जो भ्रष्टाचार के साथ-साथ हमारे लोकतंत्र को ही खत्म कर दे? सवाल है कि क्या हम इसे लोकतंत्र की कीमत पर स्वीकार करना चाहेंगे?

उपरोक्त लोकतांत्रिक चिंताओं के मद्देनजर सूचना के जन अधिकार के राष्ट्रीय अभियान ने एक वैकल्पिक लोकपाल व्यवस्था प्रस्तुत की है। जो इस प्रकार हो सकती है

- **राष्ट्रीय भ्रष्टाचार निवारण लोकपाल** -इस लोकपाल के दायरे में प्रधानमंत्री, मंत्री, सांसद, विधायक, कलक्टर, एसपी, 'अ' ग्रेड के अफसर, कम्पनियां तथा गैर सरकारी संगठन (एनजीओ) होंगे। यह उच्च स्तरीय भ्रष्टाचार को खत्म करेगा।
- **केन्द्रीय सतर्कता लोकपाल**- वर्तमान में कार्यरत केन्द्रीय सतर्कता आयोग (सीवीसी) को स्वतंत्र किया जाए, उसके अधीन एक स्वतंत्र जांच एजेंसी काम करे। इसके दायरे में द्वितीय श्रेणी के समस्त अधिकारियों को लाया जाए तथा जांच के लिए सरकार की अनुमति की आवश्यकता नहीं हो।
- **न्यायिक जवाबदेही लोकपाल**- सर्वोच्च न्यायालय के कई जाने-माने ईमानदार पूर्व मुख्य न्यायाधीशों का मानना है कि संविधान के मूलभूत ऊसूलों को सुरक्षित रखने के लिए जरूरी है कि न्यायपालिका की स्वायत्तता को कायम रखा जाए। न्यायपालिका में व्याप्त भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए संसद में 'न्यायिक जवाबदेही एवं मानक अधिनियम' विचाराधीन है; पर इसमें बहुत कमियां हैं। इन्हें दुरुस्त कर विधेयक को शीघ्र पारित किया जाए। साथ ही एक 'न्यायिक जवाबदेही आयोग' बने जो न्यायपालिका को भ्रष्टाचार से मुक्त कर उसे जवाबदेह बना सकें।
- **शिकायत निवारण लोकपाल**- भ्रष्टाचार एवं शिकायतें में फर्क है। इसलिए इनके निदान की प्रक्रिया एवं पद्धति भी अलग-अलग होगी। भ्रष्टाचार निवारण का ढांचा ऊपर से नीचे की ओर केन्द्रित रूप से काम करेगा जबकि शिकायत निवारण का ढांचा नीचे से ऊपर की ओर विकेन्द्रित रूप से काम करेगा। शिकायत सुनने, जांच करने तथा उनका निवारण करने के लिए ब्लॉक, जिला, राज्य तथा राष्ट्रीय स्तर पर शिकायत निवारण अधिकरण बनाए जाएं ताकि आम लोगों को अपनी समस्याओं का त्वरित समाधान मिल सके। समस्याओं के निदान नहीं होने से भी भ्रष्टाचार फैलता है।
- **शिकायतकर्ता संरक्षण लोकपाल**- शिकायतकर्ताओं की सुरक्षा के लिए लोक सुरक्षा कानून (व्हिसल ब्लोअर्स प्रोटेक्शन एक्ट) भी संसद में विचाराधीन है, इसको सशक्त किया जाए तथा उसे शीघ्र लागू किया जाए ताकि लोग निर्भीक होकर भ्रष्टाचार के खिलाफ संघर्ष कर सकें।

चूंकि भ्रष्टाचार केवल आर्थिक नहीं होता है, आज वह कई रूपों में हर जगह फैलकर बहुआयामी हो गया है। इसलिए उसका निदान भी बहुआयामी और बहुस्तरीय होना चाहिए। हमारी स्पष्ट मान्यता है कि शक्ति किसी एक ढांचे में केन्द्रित न होकर कई ढांचों में मौजूद रहे ताकि निरकुंशता और तानाशाही का खतरा ही खत्म हो जाए। संविधान बनाते वक्त यही हमारे संविधान निर्माताओं ने भी चाहा था।

आज प्रश्न सरकारी लोकपाल या जनलोकपाल के समर्थन करने या समर्थन नहीं करने का नहीं है। सवाल हमारे संविधान, संसद और लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं का अक्षुण्ण रखने का है। इसलिए शांत मस्तिष्क से सोच-विचार कर हमें देश हित में निर्णय करने की जरूरत है। ■

लोकपाल का तीसरा मोर्चा

अन्ना हजारे के प्रस्तावित जनलोकपाल और संसद में पेश सरकारी लोकपाल पर दोनों पक्षों में जारी तनातनी के बीच राष्ट्रीय सलाहकार परिषद (एनएसी) से जुड़ीं समाजसेवी अरुणा राय के नेतृत्व वाले नेशनल कैम्पेन फॉर पीपुल्स राइट टू इन्फार्मेशन (एनसीपीआरई) के वैकल्पिक लोकपाल का एक मसौदा पेश किया है। प्रस्तुत हैं, उनके पांच मुख्य बिंदु-

1. केंद्र और प्रत्येक राज्यों में लोकपाल/लोकायुक्त (राष्ट्रीय/राज्य भ्रष्टाचार निवारण लोकपाल) के गठन के लिए विधेयक लाया जाए। इन लोकपाल/लोकायुक्तों को सभी निर्वाचित जनप्रतिनिधियों, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री, केंद्र व राज्यों के मंत्री, सांसद, विधायकों, विधान पार्षदों, निर्वाचित पार्षदों आदि तथा वर्ग-अ के सभी आला अफसरों के खिलाफ भ्रष्टाचार के मामले को स्वीकार करने, उनकी जांच करने और पर्याप्त साक्ष्य पाये जाने की स्थिति में अभियुक्तों पर मुकदमा चलाये जाने का पूरा अधिकार होगा। उन्हें ऐसे किसी भी व्यक्ति के विरुद्ध जांच करने और उनके विरुद्ध मुकदमा चलाने का पूरा अधिकार होगा, जो लोकपाल/लोकायुक्त द्वारा की जा रही जांच या सुनवाई किये जा रहे किसी मामले में सहअभियुक्त हैं।

2. संसद में पेश होने वाले न्यायपालिका जवाबदेही और मानक विधेयक में संशोधन कर यह सुनिश्चित किया जाए कि कार्यपालिका से अपने स्वतंत्र अस्तित्व और कार्यकलापों में सत्यनिष्ठा से बिना कोई समझौते किये न्यायपालिका भी असरदार और समुचित तरीके से अपनी जिम्मेदारी निभाये।

3. केंद्र और राज्यों में जन शिकायत लोकपाल (शिकायत निवारण लोकपाल) के गठन और उनके कामकाज को सुनिश्चित करने वाले अधिनियमों का प्रारूप तैयार किया जाये। इन आयोगों को यह सुनिश्चित करने का अधिकार होगा कि हरेक सार्वजनिक प्राधिकरणों द्वारा विस्तृत नागरिक अधिकार पत्र (चार्टर) और उनके मानक तैयार किये जायें। वे यह भी तय करेंगे कि अन्य हकदारी और अधिकार संहिताबद्ध किये जा रहे हैं और प्रत्येक सार्वजनिक प्रतिष्ठान इन पर अमल भी कर रहे हैं। जनशिकायत सुनवाई आयोग विकेंद्रित कार्यप्रणाली वाली संस्था होगा, जो हरेक वार्ड और प्रखंड स्तर पर होगा और यह मूलतः जनकेंद्रित दृष्टिकोण रखेगा ताकि शिकायतों का त्वरित गति तथा विकेंद्रित, सहभागी तथा पारदर्शी तरीके से निवटान किया जा सके। शिकायतों पर सुनवाई को सूचना के अधिकार कानून तथा हालिया बने सेवा प्रदाता कानून से भी संलग्न किया जा सकता है, जिसके तहत एक अवधि तक लोगों को वांछित सेवाएं न देने पर संबद्ध अधिकारियों पर जुर्माना लगाने का प्रावधान है। इस बारे में दिल्ली के शिकायत निवटारा आयोग के सकारात्मक अनुभवों का भी लाभ उठाया जा सकता है।

4. केंद्रीय सतर्कता आयोग (सीवीसी) को और मजबूत किया जाए तथा इसकी जांच के दायरे में उन तमाम विभागों को लाया जाए, जिन्हें लोकपाल विधेयक के तहत नहीं रखा गया है। साथ ही इस संस्था को जांच और सुनवाई के अधिकार तथा संसाधन दिये जायें। सीवीसी की तर्ज पर सभी सूबों में स्वतंत्र राज्य सतर्कता आयोग का गठन किया जाये और विभागीय जांच प्रक्रिया को मजबूत बनाया जाये।

5. मामले का भंडाफोड़ करने वालों की सुरक्षा के लिए असरकारी कानून बनाना होगा। इसके अलावा, प्रत्येक संस्था को ऐसी खुफिया सूचना देने वालों की सुरक्षा और उनकी पहचान गोपनीय रखने के प्रावधान बनाने होंगे। इनमें प्रत्येक संस्था और प्राधिकरण पूरी पारदर्शिता से काम करेंगे। वे मजबूत तथा प्रभावकारी जवाबदेही के उपायों के साथ अपनी सक्रियता (निष्क्रियता) के लिए अंतिम रूप से जनता के प्रति जिम्मेदार होंगे। इन सभी प्रस्तावित संस्थाओं और उनके कामकाज के लिए एक समान कानून लागू करने के विकल्प पर विचार किया जा सकता है। हालांकि हरेक संस्था प्रत्येक से अवश्य ही अलग और स्वतंत्र रहे।

नोट : देश्वी सुनी के विषय में अपने सुझाव, संस्था व कार्य में इसकी उपयोगिता और अपनी प्रतिक्रिया अवश्य भेजें ताकि हम आपके लिये इसका प्रकाशन व वितरण ज़ारी रख सकें

निशुल्क प्रतियों के लिए संपर्क करें –
जागोरी बी–114 शिवालीक मालवीय नगर, नई दिल्ली–110017,
फ़ोनः 26691219, 26691220
email: resource@jagori.org/jagori@jagori.org

ICCO-Misereor के सहयोग से प्रकाशित